संकेत

१

संत क्यों हुए ?

अत्यंत प्राचीन काल से ही हमारे भारतवर्ष में तपस्वी, ऋषि, मुनि, योगी, भक्त, संत तथा सुधारक होते रहे हैं। वे इस टूटे-फूटे भारतीय इतिहास के महान् प्रवाह में चट्टानों के किनारे बने हुए दिखाई देते हैं। साम्राज्यों का बनना और बिगड़ना एक खेल की भाँति अनेक शताब्दियों से होता रहा है, स्त्री के सौंदर्य की ज्वाला में दिगंत तक दाह से काँप चुके हैं, कठोर श्रम में अनेक बार जन-समाज के अंग भंग होकर विकृत हो चुके हैं, किन्तु इस अतीत के प्रगाढ़ अंधकार में हमें सदा एक शक्ति मिलती रही है। वह शक्ति हमारी आध्यात्मिक शक्ति कहलाती है। आज समस्त विद्वान् इस बात को बार-बार दुहरा रहे हैं कि इस सब आनन्द, इस भौतिक सुख से परे भी कुछ है। निस्संदेह वह है। किन्तु वह क्या है उसका विवेचन किये बिना उसको स्वीकार कर लेना ठीक नहीं होगा। क्योंकि यदि हम पीछे की ओर मुँह करके खड़े होते हैं तो अनेक विचार-धाराओं में हमें अनेक भेद दिखाई देते हैं। विद्वानों का कथन है कि यह भेद बाह्य हैं। इनका आत्मा से कोई संबंध नहीं है। यह संभव हो सकता है। किन्तु प्रश्न का हल नहीं होता। यदि बाह्य भेद की आवश्यकता नहीं है तो अनेक बार अनेक संत क्यों हुए ? बाह्य रूप में भी प्रत्येक संत ने एक

भारतीय समाज में इसी छोड़ने और न छोड़ने की भयानक लड़ाई आज तक दृष्टिगोचर होती है। सहस्रों लाखों स्त्री-पुरुष हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में केवल इसी भेद के लिये एक ओर से दूसरी ओर चले गये हैं। धर्म ज़बर्दस्ती नहीं बदला जाता। जो ऐसा दबाव डालता है, वह इतिहास में अत्याचारी कहलाता है, लोग उससे घृणा करते हैं। पीढ़ी दर पीढ़ी यह घृणा जीवित रहती है और इसका फल यह होता है कि जो व्यक्ति-समूह एक उपासना में निहित होता है, वह उस दूसरे व्यक्तिसमूह से घृणा करने लगता है जो दूसरी उपासना में निहित होता है। इस प्रकार अपने-अपने को सुरक्षित रखने की, ऊँचा समझने की प्रतिस्पर्धा अनिवार्य युद्ध को जन्म देती है।

किन्तु जब कोई व्यक्ति अपने उच्च व्यक्तित्व के बल पर उठता है तब श्रद्धा से लोग उसकी बताई वीथियों पर चलते हैं। वही संत, भक्त, पैगंबर हैं, धर्म-गुरु हैं। उसके सिद्धांतों का मूल वही मानवता के आधारभूत सिद्धांत हैं, जो उसे परस्पर प्रेम करना सिखाते हैं, ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, मोह,लोभ से अलग हटाते हैं। इसी को विद्वत्-समाज मनुष्यता का शाश्वत आधार कहता है। न्याय की माँग की विजय कामना ही उसका प्रत्येक शब्द है। परस्पर लड़नेवाले अपने-अपने धर्मों को जानते नहीं। वे महात्माओं की वाणी को समझते नहीं।

उनकी भाँति उनके ऊँचे सिद्धांतों को न समझने के कारण यह अज्ञ--तपस्याहीन जन-समाज जो आध्यात्मिक तत्त्वों के प्रति जागरुक नहीं होता, परस्पर लड़ता है। उच्चवर्गों के स्वार्थी लोग जनता के अंधविश्वासों का फ़ायदा उठाते हैं।

ठीक है। किन्तु समस्या का हल नहीं होता। मनुष्य का आधार यदि एक है, तो अपने विश्वासों को खंडित करके क्यों उपासना करता है? बुद्धिमान लोगों ने यह बात बहुत पहले सोच ली थी। उन्होंने पहले एक

ही बात क्यों नहीं कही ? इसका उत्तर है कि वाह्य वातावरण सतत ही बदलता रहता है। इसी को बार-बार सुधारने के लिये बार-बार संतों ने अलग-अलग रूपों की सहायता से अपना स्वर उठाया है। उनकी सचाई ने, त्याग ने, सिद्धांतों के अनुसार होनेवाले व्यवहार ने, समाज पर प्रभाव डाला है। समाज ने उनकी पूजा की है। ईश्वर के इन चिंतकों का यह समाज-पक्ष यदि भुला दिया जाये तो इनको याद रखने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं होती। समाज के अन्य व्यक्तियों की तुलना में जो उनका चरित्र हमें उठा हुआ दिखाई देता है, हम उसी को श्रद्धा से सिर झुकाते हैं।

समाज तो एक कार्यबहुल, विचारबहुल ऐसी व्यवस्था है जो कभी स्थिर नहीं रहती, निरन्तर बढ़ती रहती है। इस बढ़ने का अर्थ यह नहीं है कि वह निरन्तर बुरे से अच्छे की ओर जाती रही है। अच्छा बुरा अपने आप में कोई मूल्य नहीं रखते। उनका तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक होता है।

मनुष्य सुखी होना चाहता है। अपने आप को ऊपर उठाना चाहता है। इसके लिये उसने अनेक अनुभव किये हैं, अनेक बार नई-नई वस्तु बनाकर उनका संहार किया है। किन्तु उसे सुख नहीं मिलता। इस निरन्तर हाहाकार में जो कुछ लोग पूर्णत्व को प्राप्त कर गये हैं, जिनकी आत्मा में संतोष छा गया है, वे ही हमारे संत भक्त हैं। इसी से संसार उनको ऊँचा समझता है। उनकी उपासना करता है। वे जो कुछ कह गये हैं उसके पीछे चलना अपना जन्म-गत अधिकार समझता है। जब कोई उसके उस अधिकार पर प्रहार करता है तब वह प्राणपण से उसकी रक्षा करने का प्रयत्न करता है, उसे अपने धर्म पर चोट समझता है। यह धर्म वंश-क्रम से चलता है। समाज में कोई-कोई परिस्थिति आती है, जब वह सहर्ष अपने धर्म को छोड़ देता है, बदल देता है, या फिर तनिक सुधारों से उसे स्वीकार कर लेता है।

भारतीय समाज में इसी छोड़ने और न छोड़ने की भयानक लड़ाई आज तक दृष्टिगोचर होती है। सहस्रों लाखों स्त्री-पुरुष हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में केवल इसी भेद के लिये एक ओर से दूसरी ओर चले गये हैं। धर्म ज़बर्दस्ती नहीं बदला जाता। जो ऐसा दबाव डालता है, वह इतिहास में अत्याचारी कहलाता है, लोग उससे घृणा करते हैं। पीढ़ी दर पीढ़ी यह घृणा जीवित रहती है और इसका फल यह होता है कि जो व्यक्ति-समूह एक उपासना में निहित होता है, वह उस दूसरे व्यक्तिसमूह से घृणा करने लगता है जो दूसरी उपासना में निहित होता है। इस प्रकार अपने-अपने को सुरक्षित रखने की, ऊँचा समझने की प्रतिस्पर्धा अनिवार्य युद्ध को जन्म देती है।

किन्तु जब कोई व्यक्ति अपने उच्च व्यक्तित्व के बल पर उठता है तब श्रद्धा से लोग उसकी बताई वीथियों पर चलते हैं। वही संत, भक्त, पैगंबर हैं, धर्म-गुरु हैं। उसके सिद्धांतों का मूल वही मानवता के आधारभूत सिद्धांत हैं, जो उसे परस्पर प्रेम करना सिखाते हैं, ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, मोह,लोभ से अलग हटाते हैं। इसी को विद्वत्-समाज मनुष्यता का शाश्वत आधार कहता है। न्याय की माँग की विजय कामना ही उसका प्रत्येक शब्द है। परस्पर लड़नेवाले अपने-अपने धर्मों को जानते नहीं। वे महात्माओं की वाणी को समझते नहीं।

उनकी भाँति उनके ऊँचे सिद्धांतों को न समझने के कारण यह अज्ञ-तपस्याहीन जन-समाज जो आध्यात्मिक तत्त्वों के प्रति जागरुक नहीं होता, परस्पर लड़ता है। उच्चवर्गों के स्वार्थी लोग जनता के अंधविश्वासों का फ़ायदा उठाते हैं।

ठीक है। किन्तु समस्या का हल नहीं होता। मनुष्य का आधार यदि एक है, तो अपने विश्वासों को खंडित करके क्यों उपासना करता है! बुद्धिमान लोगों ने यह बात बहुत पहले सोच ली थी। उन्होंने पहले एक

ऐसा मत चलाने का प्रयत्न किया जिसमें हिन्दू-मुस्लिम एकता हो। फिर एक मानव-धर्म बनाया। किन्तु यह मूर्ख जन-समाज नहीं सुधरा। इसके दिमाग़ में यह बात नहीं आई कि जैसे वह स्वयं कुछ सोचता है, और लोग भी वैसा ही कुछ सोच सकते हैं।

आधुनिक समय में उच्चवर्गों ने जहाँ एक ओर सार्वभौम धर्मों को नियंत्रित किया, वहाँ सर्वधर्म सम्मेलन भी किये, अर्थात् सब धर्म बने रहें। अब ऐसा समय आ गया है, जब एक दूसरे पर प्रहार नहीं करना चाहिये। किन्तु वह भी जन समाज में कारगर नहीं हुआ। क्योंकि प्रत्येक धर्म का अपना एक अलग वातावरण था, प्रत्येक धर्म की अपनी एक भिन्न भाषा थी, वस्त्र थे, अग-भंगिमा थी, उनमें परस्पर ऐक्य और सामंजस्य होना कठिन था। इस कठिनाई को दूर करने के लिये बार-बार महापुरुषों ने जन्म लिया और नये-नये सिद्धांतों का प्रचार किया। लोगों में भक्ति जगी। उन्होंने अपने पुराने विश्वासों को छोड़ा, नयों को स्वीकार किया। किन्तु ऐसे लोग उस महापुरुष के स्वर्गवासी होते ही उसके धूल में पड़े पग-चिह्नों पर पत्थर की चरणपादुका बनाकर बैठ गये। जो सुधार कर गये वे तो जीवन्मृत थे, पहुँचे हुए थे। जो सुधर गये वे अब अपनी सुधरी हुई अवस्था कैसे त्याग सकते थे?

पहेली उलझी हुई है। वास्तव में इस सबको एक दूसरे दृष्टिकोण से देखना होगा।

हिमालय की चोटियों पर, विन्ध्य की कान्तार पंक्तियों तथा एकांत निर्जन में अनेक ऐसे व्यक्ति अनाम ही चले गये हैं, जिन्होंने अपनी इच्छाओं को नष्ट कर दिया था। वे समाज में रह ही नहीं सके। ऐसे लोगों के लिये हम वही श्रद्धा काम में लाते हैं जो युद्ध के अनाम मृत असंख्य सैनिकों के प्रति एक पाषाण स्तंभ बनाकर दिखाया जाता है। उनके विषय में और अधिक क्या कहा जा सकता है? यहाँ तो हम उनसे प्रभावित हैं, उनको पूजते हैं, जो जल में रहकर निरन्तर मगर से बैर करते रहे। हमारा समाज

प्रारंभ से ही कुछ अभावपूर्ण रहा है। उसकी श्रद्धा पर तो कभी अविश्वास नहीं किया जा सकता क्योंकि धर्म की रक्षा के लिये वह अनहोने कारणों से अद्भुत कार्य कर चुका है जैसे मनुष्य को अछूत बनाकर रखना, और कालांतर में उसे इतना विश्वास दिला देना कि वह इसी तरह जिये जाये। उसका धर्म ही यह है। धर्म की इस व्यवस्था को बहुत से लोग ठीक मानते हैं। प्लेटो और अरस्तू तक समाज में दास-प्रथा रखने के कायल थे। पर यह उच्चवर्गों के दृष्टिकोण से सोचने का परिणाम है। मध्यम मार्ग से सोचना भी अधिक हितकर नहीं होता। हमारे नाई—न्यायी ब्राह्मण या न्यायी ठाकुर बनने को सदैव तत्पर रहते हैं, किन्तु मेहतर की हजामत बनाने से काटने को दौड़ते हैं। उनकी शर्त्त रहती है कि बामन बनिये भंगी के हाथ का खा लें तो हम हजामत बना देंगे। महात्मा गांधी के इतने उपदेश भी इन पर कारगर नहीं हुए। प्रत्येक नाई प्रायः गांधीजी से भक्ति रखता है। किन्तु इसका उत्तर तुलसीदास दे गये हैं कि समर्थ को दोष नहीं होता।

मनुष्य समर्थ क्यों होता है ? कौन असमर्थ होता है ? संत किसका प्रतिनिधित्व करते हैं ? भारतीय समाज में इतने अधिक संत क्यों हैं ? इस सबका उत्तर देना अत्यंत आवश्यक है।

समाज, सामर्थ्य और संत. यह तीनों शब्द एक दूसरे से मिले हुए हैं. किन्तु इनमें पहले दो इस धरती के हैं, अंतिम उस लोक का है. जहाँ हम सबको अंततोगत्वा जाकर पहुँचना है। वह आता है हमें उठाने। क्यों ? कभी भगवान् बनकर, कभी भगवान् का भेजा दूत बनकर, कभी दूत का भी दास बनकर, और अपना काम करके, यहाँ दुख उठाकर, चला जाता है। उसे हमसे प्रीत है, वह हमारे कष्टों को देख नहीं पाता उसे हम पर दया करना आवश्यक है। वह क्यों हमें इस अंधकार में डालकर बार-बार दरवाज़ा खोलकर बंद कर देता है. कि हम किरण की आशा में भटकते हैं, अँधेरे में एक दूसरे से टकराते हैं ?

इसके लिये हमें संतपरम्परा का विवेचन करना अत्यंत आवश्यक प्रतीत होता है। परंपरा के लिये समाज का अध्ययन करना अत्यावश्य है।

२

संतों की परंपरा

आर्यों से भी बहुत पहले से इस भारत में अनेक सभ्यताएँ पल रही थीं। हम उस समय का क्रमानुगत इतिहास उपस्थित नहीं कर सकते। किन्तु तत्कालीन विचारधाराओं का जो इंगित मिलता है वह काफ़ी प्रकाश डालता है। आर्यों के आगमन से नये द्वार खुलते हैं। इतिहास-गृह में हमारा प्रवेश सुलभ हो जाता है। आर्यों को अनेक सभ्य जातियों के दर्शन होते हैं। उनसे संघर्ष होता है, संघर्ष में विजयी होने पर वे अपनी व्यवस्था सब पर लागू करते हैं। कालांतर में उनको यह याद नहीं रहता कि वे कहीं बाहर से आये थे क्योंकि वे यहीं जम जाते हैं। इस भारत भूमि को वे अपनी कहने लगते हैं। इसके बाद भी अनेक जातियाँ आर्यचिंतन को स्वीकार नहीं करतीं। मात्र चिंतन का प्रश्न ही नहीं उठता। चिंतन के साथ का व्यवहार उन्हें अग्राह्य लगता है। परंतु दबे रहने के कारण वे उभर नहीं पातीं। कालांतर में उन जातियों के बढ़ते हुए संसर्ग से विजेता आर्यों में अनेक ऐसी बातों का प्रवेश हो गया जिन्हें हम आर्य नहीं कह सकते। इसके बाद लगभग सहस्त्र वर्ष तक कोई प्रमुख विदेशी आक्रमण नहीं होता। कर्मकाण्ड बढ़ जाते हैं। बुद्ध काल आ उपस्थित होता है। जैन धर्म बढ़ता है। अहिंसा और हिंसा का द्वन्द्व चलता है। अनेक साम्राज्य बनते हैं। विदेशियों के आक्रमण होते हैं। हर्ष की मृत्यु के बाद से मुसलमानों तक कोई विशेष आक्रमणकारी नहीं दिखता। मुसलमानों की विजय से ब्रिटिश सत्ता तक का इतिहास बहुत दूर का नहीं है।

इसी दीर्घकाल में जो अनेक संत भक्त उठे हैं हमें उन पर दृष्टिपात करना चाहिये। इसके साथ ही दो व्यक्ति और हैं—ईसा और मुहम्मद, जिनसे हमारे इतिहास का संबंध है। राजनैतिक विजेता हमारे विषय के बाहर हैं क्योंकि उनका हमारे धर्म से संबंध नहीं माना जाता। 'ईश्वर के अपने लोग' ही हमारे आलोच्य विषय हैं। अनेक राजाओं ने धर्मों का प्रसार किया है किन्तु हम उन पर न जाकर वस्तुतः उन्हें देखेंगे जो धर्म के विषय में दूसरों का मुख नहीं देखते थे, जिनके नाम पर अनेक संप्रदाय चल पड़े हैं और भारत के विस्तीर्ण क्षेत्र पर दिखाई देते हैं।

इन संप्रदायों की इतनी भीड़ है कि उसका संपूर्ण वर्णन करना अत्यंत कठिन कार्य है। हम इसे संक्षेप में ही देखेंगे। वाह्य के साथ संतों के आंतरिक रूपों को देखना भी आवश्यक है। वेदकाल में एक ओर ऋषि, मुनि तथा तपस्वी हैं, तो दूसरी ओर व्रात्य। उत्तर वैदिक काल, सूत्रकाल में शिव के दो स्वरूपों के संत मिलते हैं। एक वे जो आर्य्य सामाजिक व्यवस्था में ग्राह्य थे, दूसरे वे जो ब्राह्मण धर्म से दूर रहते थे। तीसरे वे संत जो आगे चलकर अघोर रूप में परिणत हो गये। इन्हीं के साथ ही कापालिकों, कालामुखों के आदि रूप, भूत-पिशाच की उपासना में सांसारिकता से ऊपर उठे हुए लोगों को गिना जा सकता है। इतिहास काव्यों के काल में तथा बाद में भी जब षड्दर्शन, कर्म-काण्ड का प्राबल्य हुआ यही मुख्य द्वन्द्व दिखाई देता है। गौतम बुद्ध के समय से, अथवा मौर्य साम्राज्य के युग से एक नया रूप उपस्थित होता है। एक ओर बुद्धि-प्रधान क्षेत्र के अनुयायी भिक्षु बनकर दिखाई देते हैं। इसी समय चारवाक का लोकामत धर्म उठता है। इसके साथ पाशुपत धर्मावलंबी भिन्न-भिन्न संप्रदाय, योग तथा अन्य विचारों का अनुगमन करते हुए मिलते हैं। इन्हीं पाशुपतों के अंतिम समय में कनफटे नाथ जोगियों के दर्शन होते हैं जो वज्रयान के सिद्धों में घुल-मिल जाते हैं, और फिर अपनी परंपरा कुछ दूर आगे तक ले जाते हैं।

यहाँ इस्लाम के साथ-साथ अनेक सूफ़ी मतावलंबी साधु आ जाते हैं। भारत में निर्गुण और सगुण परंपरा चलती है। मुगल साम्राज्य के अंत समय में कुछ एकता और संगठन करनेवाले धर्म उठते हैं, जैसे सिख इत्यादि, और अंग्रेज़ी शासन में अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे गांधी जैसे संत, अरविन्द जैसे योगी हमारे सामने आते हैं।

संक्षेप में यही हमारे देश की संत-परंपरा का वाह्य रेखा-चित्र है। इसमें आस्तिक, नास्तक, शुद्ध, अशुद्ध, ब्राह्मण, अब्राह्मण सभी का समावेश हो जाता है।

आश्चर्य का विषय है कि ये सब आज हिन्दू कहलाते हैं और इनके भेद आज अधिकांश लुप्त से हो गये हैं। एक तथ्य ही प्रगट होता है कि परस्पर स्नेह से रहो, असत्य की ओर मत जाओ, सब मनुष्य जीवित रहने के अधिकारी हैं। इन पर कोई अत्याचार नहीं करे। मनुष्य को सुख मिलना चाहिये। उसका सुख केवल बाहरी चकमक न होकर अंदर-बाहर दोनों में एक-सा होना चाहिये। इस सुख की कोई एक व्याख्या नहीं है। पर कुछ ऐसा अवश्य रहा है जिसके कारण जन-समाज ने श्रद्धा की है। सहस्रों वर्षों से मनुष्य ने जो भय से सिर झुकाया है वह इसलिये कि उसने इन्हें मृत्युंजय कहा है—वह अवस्था जब मनुष्य मृत्यु से भय नहीं पाता। जब उसे लगता है कि वह सब दुर्गम रहस्यों को पार कर चुका है। जो पाना था वह तो पा लिया। अब संसार का दुख नहीं रहा है।

तब संसार के दुख से मुक्ति पा जानेवाला हो जो मनुष्यता के तत्त्वावधान में अपने गुणों का वर्धन कर लेता है, हमारे समाज में पूज्य रहा है। उसका कोई मत हो, वह कुछ भी क्यों न कहता रहे, विरोधों के बावजूद यदि उसका व्यक्तित्व महान् है, यदि कुछ लोग उसके पीछे चलने-वाले हैं, उसे इस अनेक शताब्दियों की धारा में स्वीकार कर लिया जाता

है। सामर्थ्य का अर्थ यहाँ इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है। सामर्थ्य है—जनमत।

किन्तु यह सब किसी एक विशेष इकाई की ओर आने के प्रयत्न हैं। दूर हटने के जितने भी पथ हैं, संतों ने उनका विरोध किया है। इधर-उधर जाने की आवश्यकता कहीं नहीं है। यदि वह धारा एक नहीं है तो भारतीय संस्कृति को समन्वयवाद क्यों कहा जाता है? इस भूमि पर अनेक विश्वास, देवी, देवता जातियाँ, वर्णभेद, विदेश से आई जातियाँ, संप्रदाय, पूर्ण तथा अर्द्ध-विश्वास, उपासना पद्धति, द्वैत, अद्वैत, और द्वैताद्वैत सब हैं। उनमें परस्पर इतना विद्वेष और घृणा रही है कि बार-बार संतों ने उसे मिटाने की चेष्टा की है। यह सत्य है कि वे उसे मिटाने के स्थान पर कभी-कभी और भी अधिक उग्र कर गये। कालांतर में वे द्वेष मिटे भी तो अपने प्राचीन स्वरूपों को थोड़ा-बहुत हेर-फेर करके और जैसे पगडंडियों पर कोई बहुत दिन नहीं चले तो उन पर घास उग आये, बढ़ जाये, सारा वृक्षों से भरा जंगल एक सा दिखाई दे, कहीं से निकलने को पथ ही न दिखे, यही हमारे देश के इतिहास के विषय में कहा जा सकता है। ऊपर दिये रेखाचित्र को अब कुछ विस्तार से देखने की आवश्यकता है।

३

व्रात्य तथा आर्य

विद्वानों का मत है कि अत्यन्त प्राचीनकाल में वेद-विरोधी ही व्रात्य थे। सामवेद में इनका उल्लेख आता है कि यह व्रात्यदेव पहले बहुत नीचे थे किन्तु अथर्ववेद में इनका वर्णन इस प्रकार आता है:

ॐ ॥ व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत् ।
१५।१।१॥

सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत ॥८।१॥
स विशः सबन्धूनन्नमन्नाद्यमभ्युदतिष्ठत् ॥२॥
विशां च वै स सबन्धूनां चान्नस्य चान्नाद्यस्य च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥३॥
स विशोऽनुव्यचलत् ॥६॥१॥
तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानु व्यचलन् ॥ २ ॥

अर्थात् व्रात्य अन्यों पर अपना प्रभाव डालता है। प्रजापति पर भी उसका प्रभाव चलता है। अपनी स्वतंत्र बात कहकर वह सब पर अधिकार कर लेता है। वह मनुष्य के अन्न संबंधी, अन्यान्य खाद्य पर स्वामी बन जाता है। वह अपने जनों का प्रिय हो जाता है। सभा समिति, सेना, सुरा पर उसका प्रभाव गहरा हो जाता है।

कुछ विद्वान इसका शरीर के भीतरी शासन से अर्थ लगाते हैं। वे इन्हें आर्य ही मानते हैं। जो हो व्रात्य वेद के विरोधी थे। स्वतंत्र एक स्थान से दूसरे स्थान को अपनी बात का प्रचार करते हुए घूमा करते थे। इनका सब आदर करते थे।

इस समय आर्यों में यह आवश्यक नहीं है कि घर बार छोड़ देने-वाले लोग नहीं थे। ऋषि और मुनि उन दिनों थे। वे यदि कभी घर में रहते थे, तो अधिकांश उनके लिये एकांत ही बताया गया है। किन्तु वे वेद के विरोधी नहीं थे। समाज से उन्हें घृणा नहीं थी। किन्तु वे उसमें लिप्त नहीं थे। तभी ऋषि ने ईशोपनिषद में कहा है:

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

यस्मिन् सर्व्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

अर्थात् वह चलता है। वह नहीं चलता। वह दूर है। वह निकट है। भीतर है। सब में है। बाहर है।

जो सब प्राणियों को अपने में ही अपने जैसा जानता है। वहाँ मोह कहाँ जहाँ समभाव से देखता है।

अज्ञानी ही अंधतमिस्र नामक नरक में जाते हैं। जो विद्या और अविद्या को जानता है वही मोक्ष को प्राप्त करता है। वे अंधकार में डूबे हैं जो असंभूति (अनादि प्रकृति) की उपासना करते हैं। उनसे भी अँधेरे में वे हैं जो सम्भूत (प्रकृति-जन्य-कार्यों) की उपासना करते हैं।

इससे प्रगट होता है कि ऋषि इसे छोड़ देना चाहते थे। आगे कहा है : जो कार्य और कारण जगत् को जानता है वह जानता है, मृत्यु और विनाश से तरण करना। सत्य का मुख सोने के पात्र से ढँका हुआ है। सूर्य समान तू ज्योति के पथिक, सत्यधर्म के लिये उसे खोल।

केनोपनिषद् में सांसारिकता को छोड़ने पर और भी प्रकाश डाला गया है।

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचंसउप्राणस्य प्राणः। चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ २ ॥

कान का कान, मन का मन, वाणी का वाणी, प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु छोड़कर धीर मरकर लोक से अमृत हो जाता है।

इस प्रकार सबके पीछे कुछ है जिसे यहाँ छोड़ना आवश्यक है। और अंत क्या है ? जन्म-मृत्यु के बंधनों से मुक्ति।

जो पहले से उपदेश कर गये हैं उन्होंने बताया है कि न वहाँ आँख पहुँचती, न वाणी, न मन, न ज्ञान, अनुभव से परे, इन्द्रियों से दूर। वह

आँखों से नहीं देखा जाता, पर जिससे आँख देखती है, वही तो वह है। वह बिजली की भाँति चमकता है फिर छिप जाता है।

उसको जानने को तप करो, भूख-प्यास, शीतोष्ण सहो, वेदोक्त कार्य करो। वेद उसे ही फैलाते हैं। जो इसे जानता है वह जन्म के बंधनों को काट देता है।

स्पष्ट है कि ऋषि देह बंधनों से दुखी है। शरीर को दुख देना आवश्यक है। आनंद तो जीव को मिलता है। वह भटक रहा है। उसका साकार रूप मनुष्य है। वह जन्मांतर तक क्लेश भोग रहा है।

कठ में नचिकेता मृत्यु की पहेली सुलझाने लगा। अपने दूसरे वर में उसने पूछा—स्वर्ग में भय नहीं। वहाँ बुढ़ापा नहीं। दोनों को पार करके भूख-प्यास से दूर आनन्द भोगता है? यह बताओ।

वानप्रस्थ आश्रम सांसारिकता से दूर होकर रहने का ही नाम था। जीवन का एक भाग नियमित रूप से अलग रहकर व्यतीत किया जाता है।

नचिकेता ने आत्मा के संबंध में प्रश्न किया—यह होता है या नहीं। तुम क्या है?

श्वो भावा मर्त्यस्य यदन्त केतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयंति तेजः
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते। २६

सब विषय नश्वर हैं। मनुष्य नश्वर है। इन्द्रियतेज शक्ति जीवन सब अल्प है मृत्यु! यह नृत्यगीत तुम्हारा ही रहे। मैं क्या पाऊँगा? मोक्ष का साधन संसार में नहीं है। धीर श्रेय के लिये सांसारिक प्रेम को त्याग देता है। जो वासना से परे है, वही श्रेष्ठ है।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति
मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते॥ ६।३७।२॥

।

अज्ञानी मुक्ति के साधन में नहीं लगते। धनमोह से मूर्ख प्रमाद में रहते हैं। यह लोक नहीं, इससे परे; बार-बार, इसे माननेवाले, वश में आते हैं—मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

'वह' हर्ष और शोक से परे है।

न तत्र सूर्योभाति न चंद्रतारकं नेमाविद्युतो भांति कुतोऽयमाग्नेः। तमेव भान्त मनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।१०।४२।। मुण्डकोपनिषद् । द्वितीय । द्वितीय खण्ड ।

न वहाँ सूर्य चमकता है, न चंद्र-तारे, विद्युत, अग्नि। उसी के प्रकाश से सब प्रकाश करते हैं, उसी से भासित हैं।

वेद के सृष्टि-विषय के वर्णन से यह दूर नहीं है क्योंकि वहाँ भी अज्ञात से प्रारंभ होता है। किन्तु संसार को तुच्छ समझकर तप करना अविद्या में ग्रस्त लोगों के प्रति ऋषि, मुनियों का यह शोक कितना मुखर है। वेद, उपनिषद, वेदपूरक साहित्य, रामायण, महाभारत, वेदांत, पाँचरात्र, सबके काल में यही पक्ष मुखर दिखाई देता है। बार-बार अनेक ऋषियों का वर्णन आता है। किन्तु यह ऋषि ऐहिक सिद्धियों को भी प्राप्त करने के इच्छुक रहते थे। इन्हें एकदम क्रोध हो आता था। इनके परस्पर क्या भेद थे, यह जानना आज तनिक कठिन है। तपस्वी बालखिल्य ऋषियों का तो ऋग्वेद में ही वर्णन मिलता है। रामायण के जाबालि ऋषि ने अवश्य राम से नास्तिक प्रश्न पूछे हैं। किन्तु राम के उत्तर न दे पाने और अप्रसन्न होने पर वसिष्ठ ने समझाया है कि जाबालि वास्तव में चरम सत्य को पहुँच गये हैं। इन्हें अब संसार से पूर्ण विरक्ति हो चुकी है। इनके लिये कर्तृत्व और अकर्तृत्व में कोई भेद नहीं रहा है। इससे प्रकट होता है कि जाबालि भी पहुँचे हुए संतों में थे। वे राग-द्वेष से परे हो चुके थे। जिस तत्त्व को आर्य बहुत गंभीर समझते थे उसे उन्होंने हँसकर टाल दिया था।

आर्यों की यह परंपरा हमें ऋग्वेद से प्रारंभ करके महाभारत काल तक ले आती है। ऋषि के कुछ भेद इस प्रकार हैं, ऐसा प्रतीत होता है। कुछ सूर्य के उपासक थे। कुछ चंद्र के। कुछ आत्मा संबंधी खोजों में शरीर को अत्यत कष्ट देते थे। कुछ ब्रह्मचर्य को ही सबसे अच्छा मानते थे।

अग्निवंश में भृगु का वंश निस्संदेह देवों में पहला था, दूसरा ही आङ्गिरस बृहस्पति का विख्यात है। भृगु का प्रत्येक कार्य जीवन की एक कठोर दिनचर्या की ओर इंगित करता है। बृहस्पति प्रारंभ से ही आनंदवाद का प्रतीक है। अथर्वण वेद जिसमें अनार्य जीवन का सबसे बड़ा प्रभाव है, उसका भी आङ्गिरस से ही संबन्ध जोड़ा जाता है। कालांतर में चारवाक का अग्रगंता भी एक बृहस्पति ही कहलाता है। ऋषियों को प्रत्येक काल में इनसे कुछ न कुछ वाद-विवाद करना पड़ा था। तपोबल को आगे चलकर योगबल से मिला दिया गया है। योग का अर्थ प्रारम्भ में केवल सम्बन्ध से लिया गया है :—

योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये ॥ ऋ॰ वे॰ । १ । ३॰ । ७ ।

इसीलिये समानता और सामंजस्य में ऋषि ने कहा है :—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। अन्यो अन्यमभि-हर्यत वत्सं जातमिवाघन्या। अ॰ वे॰ ३ ॥ ३॰ ॥ १ ।

हे मनुष्यो ! सहृदय रहो। एक बुद्धि रहो। घृणा से मुक्त रहो। अन्यों से घृणा नहीं करो। एक दूसरे से स्नेह करो। जैसे गाय द्वारा नवजात बछड़ा प्यार किया जाता है।

मंत्र परंपरा में प्रवाहण जैवलि का नाम लेना आवश्यक है। अन्य सहस्रों-लाखों नामों में यही एक व्यक्ति है जिसने पुनर्जन्म का दृढ़ विश्वास जमा दिया है। पहले सम्भवतः जीव मृत्यु के बाद अनन्त यातना पाता

करता था। किन्तु इसके बाद वह बार-बार इसी पृथ्वी पर लौटकर आने लगा। यह पृथ्वी ही रौरव हो गई। मनुष्य देह ही दण्ड प्राप्ति का रूप हो गया। ईश्वर जो निकट था वह दूर-दूर हो गया।

यह वह स्वरूप है जो वेद से इधर-उधर नहीं भटकता। सत्य तो वेद में पहले ही से धरा है। अब व्यक्ति की साधना की आवश्यकता है जो उसे पहचान ले। ब्राह्मण व्यवस्था पूर्णरूप से मान्य थी। उसमें कोई गड़बड़ नहीं थी। मनुष्य दुःखी था तो अपराधी और पापी होने के कारण। वह अपराध क्यों करता था? क्योंकि उसमें लोभ, मोह, अमर्ष इत्यादि थे।

जन्म लेना पड़ता है। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य दोनों संसार के लिये आवश्यक हैं। परन्तु एक यही सब नहीं है। इससे ऊपर भी कुछ है। अतः वानप्रस्थ और संन्यास की निर्धारणा की गई। यदि यह एक परम्परा थी, तो यह एक विश्वास भी था। मनुष्य शताब्दियों तक इसी चक्र में घूमता रहा। हमारे पास इसके साधन नहीं हैं कि इस समस्त काल के छोटे भेदों को आज प्रस्तुत सामग्री में से इकट्ठा कर सकें। किन्तु संसार त्यागनेवालों की परम्परा जितनी प्राचीन थी, उतनी ही परिवर्त्तनशील भी रही होगी।

इस समस्त धारा का सारांश निकालकर हम इस प्रकार रख सकते हैं :—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशया।
क्षीयंते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।

हृदय की ग्रंथी टूट जाती है, सारे संशय टूट जाते हैं। उसके कर्म भी क्षीण हो जाते हैं। जब वह उसको देख लेता है जो इन्द्रियों से नहीं देखा जा सकता।

यह एकत्व की चाह ही शरीर को कष्ट देने के मूल में थी। वह एकत्व जो पूर्ण हो। उस पूर्णता ने सबसे पहले संसार को दुख मान लिया।

और फिर यह निरासक्त घूमनेवाले लोग अपनी बात को समाज को सुनाने लगे।

४

शिवोपासना

जब हम शिवोपासकों की ओर आते हैं तब भारत के बहुत प्राचीन इतिहास को खोजना पड़ता है। शिव के स्थान से योग और लिंग सम्बद्ध हैं। सिंधु प्रदेश की सभ्यता के खंडहरों में शिव की जो आसन-बद्ध समाधिस्थ मूर्त्ति मिली है वह इसी बात को प्रगट करती है कि उस काल में ऐसे लोग हो चुके थे जो योग करते थे। योग के किसी भी रूप में सामाजिक व्यवहार से कुछ अलग होने की प्रवृत्ति अत्यंत आवश्यक है। मुनि-पत्नियों ने ही शिव की पहले अधिक चिंतना की है। पुराणों में वर्णन है कि शिव को पहले घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। वे नंगे रहते थे। खाद्य-अखाद्य का उनके यहाँ कोई प्रश्न नहीं था। वे वेद की चिंता नहीं करते थे। भस्म शरीर पर रमाते थे। अत्यंत प्राचीन काल से ही उनके साथ चमत्कार लगे हुए हैं। शिवलिंग के प्रति मुनि-पत्नियाँ जब आकृष्ट हुईं तब मुनियों ने इसका घोर विरोध किया। किंतु वह विरोध बहुत नहीं चल पाया। मुनि-पत्नियाँ आर्य थीं, अथवा आर्येतर, वे जिस ओर आकृष्ट थीं, वह पथ निस्सन्देह आर्य सामाजिकता से बहिष्कृत था। उसमें कल्याण की जो भावना बताई गई है वह आर्यों में उतनी नहीं मिलती। तथा, दक्षयज्ञ में जो शिव तथा वीरभद्र का वर्णन है, वह शिव के एक और सम्प्रदाय पर प्रकाश डालता है। महाभारत में दक्ष ने शिव की स्तुति करते हुए उनका रूप सम्मुख रखा है। महाभारत परवर्ती ग्रंथ है। परन्तु योग और तप करनेवाले जो संसार छोड़कर श्मशान में बैठते थे और जन-समाज पर जिनका गहरा प्रभाव था, वह दर्शन हमें यहीं मिल जाता है।

और भी पहले असुर जाति में जब हम इसी शिव का आदिम रूप देखते हैं तब टीकाकारों ने असुर की व्याख्या करते हुए कहा है कि ये लोग जीवन के उपरांत मृत्यु के पथ पर श्वास का निरोध जानते थे।

प्राचीन मिश्र, बैबीलोनिया, सुमेर, तथा हिमालय की कुछ पहाड़ी जातियों में ऐसे लोगों का इङ्गित मिलता है जो तंत्रवादी थे। विद्वानों का मत है कि सिंधु प्रदेश के लिपि-चित्र वास्तव में प्राचीन हिंदू ग्रन्थों के तंत्र-चित्रों से बहुत मिलते-जुलते हैं।

महाभारत के दक्ष-यज्ञ की स्तुति में शिव और काम को एक ही बता दिया गया है। स्मरण रखने का विषय है कि दक्ष-यज्ञ के बाद ही शिव और काम का परस्पर युद्ध हुआ है जिसमें शिव की विजय हुई है।

इस काल की उस संत परम्परा का कुछ ज्ञान हमें निम्नलिखित से होता है जिसे अंततोगत्वा आर्यों ने विवश होकर बुरा कहना छोड़ दिया।

"कलियुग में महादेवजी की भक्ति करना सर्वथा उचित है। उनकी भक्ति करने से सांसारिक भय से छुटकारा मिल जाता है। वे तीनों लोकों में दिगम्बर और ऊर्ध्वरेता के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके आधे अंग में पार्वती स्थित है और वही कामदेव के विजयी हैं। वे श्मशान में भूतगणों के साथ क्रीड़ा और नृत्य करते हैं। वे कर्मों का फल नहीं भोगते। वे सूक्ष्म, स्थूल, अनुपम, इन्द्रियों से अग्राह्य, सगुण और निर्गुण हैं। वे सृष्टि, स्थिति और संहार करते हैं। वे तीनों काल स्वरूप और सबके कारण हैं। उन्होंने सृष्टि और संहार करने के लिए लिङ्ग के साथ भग का संयोग कर दिया है। ब्रह्मा का चिह्न पद्म है। विष्णु का चिह्न चक्र और महादेव का चिह्न वज्र है। प्रजा शिव-पार्वती का लिङ्ग और योनि चिह्न धारण करती है।"

(महाभारत अनुशासन पर्व)

नारद की इसी कथा में एक स्थान पर निम्नलिखित वर्णन है जो शैवों की चर्य्या पर भी प्रकाश डालता है :

माता ने कहा : बेटा ! उन दुराराध्य, दुर्बोध्य, दुर्लंघ्य महादेव को मूढ़ मनुष्य नहीं जान सके। सुनो, वे अपनी इच्छा से ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, रुद्र, आदित्य, अश्विनी कुमार, विश्वेदेवा, मनुष्य देवनारी, प्रेत, पिशाच, किरात, शबर, कूर्म, मत्स्य, शङ्ख, यक्ष, राक्षस, सर्प, दैत्य, दानव, जन्तु, गर्भवासी तथा जल-जन्तु, बाघ, सिंह मृग, तरक्षु, रीछ, उलूक, कुत्ता, गीदड़ गिरगिट, हंस, कौआ, मोर, बगला, सारस, गिद्ध, चक्रवाक, नीलकण्ठ, पर्वत गाय, घोड़ा, हाथी, ऊँट, गधा और बकरी का रूप धारण करते हैं।

वे कभी भस्माच्छादित और अर्धचन्द्र से भूषित रहते हैं। वे कभी प्रसन्न होते, कभी क्रुद्ध होते और कभी क्रीड़ा करते हैं वे कभी साँप की मेखला, साँप के कुंडल और साँप का यज्ञोपवीत पहनते हैं, कभी साँप का चमड़ा बिछाते हैं। वे कभी अपने गणों के साथ नाचते, गाते-बजाते और हँसते हैं। वे कभी उन्मत्त होकर जमुहाई लेते, इधर-उधर घूमते और रोते चलाते हैं। वे कभी प्रचण्ड मूर्ति धारण करके प्राणियों को ठगते हुए खिलखिलाकर हँसते हैं, कभी जागते और कभी सोते हैं। वे कभी दान, ग्रहण योग और ध्यान करते हैं; कभी वेदी, यूप, गोष्ठ और अग्नि में निवास करते हैं। वे कभी खड़े बाल और महालिङ्ग से युक्त होकर नंगे घूमते हैं, कभी विकृत लोचन रहते हैं, और कभी विशालाक्ष रहते हैं। वे कभी चक्र, कभी शूल, कभी गदा, कभी मूसल, कभी तलवार और कभी पट्टिश धारण करते हैं।

(वही)

परवर्ती होने के कारण इसमें कितना अत्यंत प्राचीन है यह नहीं कहा

जा सकता। जिन वस्तुओं में वे रहते हैं, उनमें अधिकांश पशुओं की टॉटेम जातियाँ अभी भी उपासना करती हैं। तो क्या इसका अर्थ समझा जाये कि आर्यों के विरुद्ध इन सब जातियों का प्राचीन विश्वास एक हो गया था!

जो हो, यह नितांत असामाजिक रूप है। उस युग में ऐसे संत अवश्य रहे होंगे जिनके आधार पर यह वर्णन किया गया है, क्योंकि ऐसे लोग बाद में थे, इसका प्रमाण है। सम्भवतः यह परवर्ती रूप और कुछ बदल चुका था।

ये सत आर्यों पर छा गये। तब शिवोपासकों में दो भेद हो गये। एक वे शैव जो आर्यों ने मिला लिये। दूसरे वे जो नहीं मिले। अलग बने रहे।

उपमन्यु की कथा से स्पष्ट होता है कि आर्यों ने ही शिव के मनुष्य रूप की सगुण धारणा पाई, यद्यपि अनेक अनार्य चिह्न जो यहाँ की आर्येतर जातियों की विशेषताएँ थीं उनमें रह गईं। इस रूप में योग मिला। यह अद्वैत शैव का प्रारभ हुआ। श्मशान इससे दूर नहीं किया जा सका। संसार से विराग होना चरमोद्देश्य हो गया।

शङ्कर ने ही पहले पाञ्चभौतिक ब्रह्माण्ड पैदा किया। फिर जगदुत्पादक विधाता की स्थापना की। पचमहाभूत,बुद्धि,मन,महत्तत्व महादेव से ही पैदा किये गये।

संन्यास से एक और चरण बढ़कर अत्याश्रमी माने गये। वे परम् पवित्र थे। अत्याश्रमी का यह शैवों का तत्कालीन रूप हमारी संत परंपरा की एक शृङ्खला है जिन्हें छोड़ देने से आगे की धारा टूट जाती है।

ये लोग कठिन तपस्या करते थे। कुछ लोग वायु भक्षण करते थे। कुछ लोग जल पर ही निर्वाह करते थे। कुछ लोग जप ही किया करते थे। योगाभ्यास बहुत महत्त्वपूर्ण था। कोई धुआँ ही पिया करते थे। सर्दी-गर्मी झेलकर शरीर को तपाया जाता था। कोई हाथों का उपयोग

न करके गायों के समान ही खाते-पीते थे। कोई चन्द्र की किरणों पर, कोई जल के फेन पर, कोई पीपल के पत्तों पर ही निर्वाह करते थे। कोई पानी में पड़े रहते थे। कोई एक पैर पर खड़े रहते थे। कोई दिन भर गाने-बजाने में विभोर रहते थे।

कथा है कि ब्रह्मदेव ने यह गुह्य शास्त्र पहले-पहल शक्र को बताया, शक्र ने मृत्यु को, मृत्यु ने रुद्र को, रुद्र ने तण्डी को तण्डी ने शुक्र को, शुक्र ने गौतम को, गौतम ने वैवस्वत मनु को, मनु ने यम को, यम ने नचिकेता को, नचिकेता ने मार्कण्डेय को और उन्होंने उपमन्यु को बतलाया।

महाभारत की यह परपरा कितनी ही मनगढ़न्त हो किन्तु जो नाम दिये गये हैं वे निस्सन्देह, जैसा कथाएँ कहती हैं उनके अनुसार काल-क्रम से दिये हुए हैं। शक्र, मृत्यु, रुद्र, तण्डी, शुक्र, गौतम वैवस्वतमनु, यम, नचिकेता, मार्कण्डेय तथा उपमन्यु का वर्णन क्रमशः देवयुग, ऋग्वेद युग, परवर्ती वेद काल, उपनिषद तथा पुराण युग में मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि शिव संतों की प्राचीनता कितना पीछे ले जानेवाली है।

लिङ्ग की अर्चना भी अनादि काल से बताई गई है। कुछ विद्वानों ने लिङ्ग पूजा आर्यपूर्व सभ्यता की पूरी बेल्ट में प्रचलित बताई है। उस ओर जाने से हम उपासना क्षेत्र में चले जायेंगे और संत परम्परा से छूट जायेंगे। यहाँ भी भद्रकाली, महाकाली तथा अन्य देवताओं के साथ शिवलिङ्ग जुड़ा हुआ है। परवर्ती काल में इन सबका पल्लवन शैव-रूप भारत में विद्यमान रहा है। इसकी जड़ इसी स्थान पर मिलनी आवश्यक है।

शिव के इस रूप में जितना बुद्धि का क्षेत्र है, उतना ही रूढ़ि, भय अंधविश्वास और भक्ति का भी। आगे चलकर जात-पांत विरोधी यही शैवसंत दक्षिण में महान् भक्त हुए, बल्कि यह कहा जा सकता है कि

संस्कृत और हिन्दी में भक्ति काव्य प्रारम्भ होने के पहले ही दक्षिण में शैव संत भक्ति के पथ पर चल पड़े थे।

इनमें अधिकांश नीच जातियों को प्रश्रय मिलता था।

शिव का दूसरा रूप जो आर्यों में स्वीकृत था वह अधिक बुद्धिवादी था। यही आगे चलकर सुस्थिर योग-मत में परिवर्तित हुआ।

शिव का चिह्न जो महाभारत में वज्र कहा गया है उस पर भी ध्यान देना अत्यंत आवश्यक है। वज्र परवर्त्ती काल में शून्य और लिङ्ग का चिह्न रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं शिव के तीन प्रकार के संत हुए:

१. वे जो आर्य सामाजिक व्यवस्था में स्वीकृत थे। अद्वैत ही जिनका चरमलक्ष्य था। वे ज्ञान मार्गी थे। योग मुख्य था।

२. वे जो आर्य सामाजिक व्यवस्था के बाहर थे। अद्वैत और योग मुख्य था। नीरस थे। जाति बंधन विरोधी थे।

३. वे जो दूसरी श्रेणी के अतिरिक्त कुछ स्त्री संबंध की ओर आश्रित थे। इनमें भयानक विरक्ति थी। श्मशान साधना में लगे रहते थे।

इनके प्रमुख संतों के अलग-अलग नाम नहीं बताए जा सकते क्योंकि नामों का छाँटना प्रायः असम्भव है।

जीवन को दुखी समझकर, अपने चरम को कल्याणकारी और शिव समझनेवाले ये सन्त मनुष्य के प्रेमी थे। पंच देवोपासना की प्राचीन आर्येतर प्रवृत्ति इसे आगे बढ़ाती थी, किंतु सांसारिकता एक जाल थी, एक दुःख थी। मनुष्य की शरीर को कष्ट देने की प्रवृत्ति, इन्द्रियों का दमन करके, चित्त को एकाग्र करने की चेष्टा इनका मुख्य कार्य था।

अनादि काल से बहती यह धारा अब अपने प्राचीन स्वरूप को धीरे-धीरे बदल रही थी। इसका वास्तव में आंतरिक संगठन हो रहा

था। इनकी जीवदया का तात्पर्य यदि एक ओर मनुष्य की मुक्ति थी, तो दूसरी ओर बलिदान भी चलते थे। ब्राह्मणों का कर्म-काण्ड कभी इन्हें इसलिये दोषी नहीं ठहरा सका, किंतु इनके मुर्दों को खा लेने की उसने सदैव ही निंदा की। वह उसे असह्य था। परन्तु इनके लिए सब अभेद था।

५

पौराणिक संत तथा समीप के मत

इस समय भारत भूमि में भक्ति के बीज फूटने लगे थे। पुराणों में इसका काफ़ी वर्णन मिलता है। महाभारत में कृष्ण ने बताया है:

जो लोग श्रद्धा के साथ मुझमें ही मन लगाकर मेरे ही लिये कर्म का अनुष्ठान करते हैं वे ही, मेरे मत में श्रेष्ठ हैं। जो लोग सब प्राणियों का हित करते हैं, सर्वत्र समबुद्धि होकर अव्यक्त ब्रह्म का ध्यान करते हैं, वे भी मुझे ही प्राप्त होते हैं। उनमें विशेषता यही है कि देहाभिमानियों की अव्यक्त ब्रह्म में निष्ठा होना अनायास साध्य नहीं है। जो लोग व्यक्त अव्यक्त भाव छोड़कर मुझको ही सब अर्पण कर, एकान्त भक्ति के साथ मेरा ध्यान और उपासना करते हैं, उन्हें मैं बहुत ही शीघ्र इस मृत्यु दूषित संसार से उबार लेता हूँ। इस कारण तुम मुझमें मन और बुद्धि अर्पण करके मुझे ही भजो। ऐसा करने पर निस्सन्देह शरीर त्यागने पर मुझमें लीन हो जाओगे।

वनपर्व में एकरूप की समन्वयात्मकता देखने योग्य है—

यतयः शान्तिपरमा यतात्मानो बुभुत्सवः।
कामक्रोधद्वेषमुक्ता निःसङ्गा वीत कल्मषाः।
सत्त्वस्था निरहङ्कारा नित्यमध्यात्मकोविदाः।
मत्तः प्रादुर्भवन्त्येते मामेव प्रविशन्ति च,
यतयः शान्ति परमा यतात्मानो बुभुत्सवः।

कामक्रोध द्वेषमुक्ता निःसङ्गा वीत कल्मषा:
सत्त्वस्था निरहङ्कारा नित्ममध्यात्मकोविदा: ।
मामेव सतत विप्राश्चिन्तयन्त उपासते
अहं सम्वर्त्तको वह्निरहं सम्वर्त्तकोऽनिल: ।
अहं सम्वर्त्तक: सूर्यस्त्वहं सम्वर्त्तकोऽनल:
ताराख्पाणि दृश्यन्ते यान्येतानि नमस्तले ।
कामक्रोधश्च हर्षश्च भयं मोहं तथैव च ।

जो कुछ है वह 'मैं' हूँ । मनुष्य ही परमात्मा हो गया । आर्य काल में यह अद्भुत् भावना कृष्ण के ही मुँह से सुनाई देती है । यही नारायण का स्वरूप यहाँ अत्यन्त प्रभावशाली रहा ।

प्राप्नुवन्ति वरा विप्र यत् कृत्वा कर्म शोभनम्
सत्यं दानं तपश्चोग्रमहिंसा चैव जन्तुपु
सन्यग्वेदमधीयाना यजन्ते विविधैर्मखै:
शान्तात्मानो जितक्रोधा: प्राप्नुवन्ति द्विजातय: ।
यदा यदा च धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत
अभुत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।
त्रैलोक्यं नाशयाम्येक: कृतस्नं स्थावर जङ्गमम्
अहं त्रिवर्त्मा विश्वात्मा सर्व लोक सुखावह:

धर्म का नाश होने पर परमात्मा बार-बार जन्म लेता है । हे मनुष्य ! निराश मत हो । संसार में विश्वास रखो । यह सत्य है कि यहाँ मुखर यातना है किन्तु—

......सर्वलोकपितामह:

अहं नारायणो नाम शङ्खचक्र गदाधर:

मैं सब लोकों का निर्माता हूँ । मैं नारायण हूँ । यह परमेश्वरत्व मनुष्य की चरम शक्ति और व्यापकत्व हो गया । इसी त्रिलोक के नाश और सृजन का भार ब्रह्म के ऊपर निहित हो गया ।

वैष्णव सम्प्रदाय के इस रूप के साथ हो विद्वानों का मत है कि परम् भागवत स्वरूप मिल गया। इसमें एक प्रेम की, भक्ति की परंपरा भी चल पड़ी जिसने भक्ति को एक आधार दिया। ईश्वर पर मनुष्य का अधिकार अब कुछ अधिक हो गया। सहिष्णुता कुछ अधिक हो गई।

सन्तों में एक असहायत्व जाग उठा। चक्रधर का रक्षक स्वरूप आ गया। अब परम् भागवत, परम् वैष्णव सन्तों ने कहीं-कहीं जाति परम्परा को भी तोड़ने की प्रवृत्ति दिखाई। परवर्ती काल में इन्होंने किरात, हूण, आंध्र, पुलिन्द, पुक्कस, आभीर, शुह्म इत्यादि को शुद्ध करके अपने में मिला लिया।

उस समय एक ओर पूर्व मीमांसा और सांख्य ईश्वर पर चुप हो गये थे तो दूसरी ओर वेदांत, न्याय, वैशेषिक तथा योग पंथ के लोग ईश्वर को मानते थे।

सबके अनुसार जगत का मूल प्रायः वही स्वरूप है। वह एक अनादि अनंत प्रवाह है। इसमें कभी सयोग होता है कभी वियोग होता है। अनेक प्रकार की क्रिया करनेवाली माया ने भँवर डाल रखे हैं। और अनेक रूपो में यह प्रकृति एक परिणाम है मात्र तत्वों के मिलन से। जीव जड़ है,वह चेतन भी है। कुछ भी हो प्रत्येक परिस्थिति में वह किसी न किसी रूप में फँसा हुआ है।

वह ऐसे काम करता है जो निषिद्ध हैं। अज्ञान, अविद्या और अविवेक ही उसको बाँधते हैं। मनन, तत्त्वज्ञान, चित्तशुद्धि, चित्त की एकाग्रता, परमात्मा का शोधन, इत्यादि से काम आरम्भ करना चाहिये। वेद के अनुसार काम करो। अपने को ब्रह्म समझो। प्रकृति और पुरुष क्या करते हैं? यह जानो। योग में समाधि लगाओ।

अविद्या, आध्यात्मिक दुःख, पंचक्लेश से छूटो। स्वर्ग प्राप्त करो। ब्रह्म को पाओ।

इनके आचार्य जैमिनी, वेदव्यास, गौतम, कणाद, कपिल, पतंजलि हैं। निस्सन्देह यह षट्‌दर्शन का रूप गौतम बुद्ध से पहले हो चुका है। पतंजलि इत्यादि बाद में हुए हैं। किंतु जिस परिपक्वावस्था का रूप है, उसकी एक पुरानी परंपरा मिलनी आवश्यक है। इसलिए हमने इसका परिचय यहीं दे देना उचित समझा है।

स्पष्ट है कि मनुष्य की वेदना और दुःख से प्रभावित समाज में इन ज्ञानियों ने देह और संसार की मुक्ति ही सबसे बड़ी चीज़ मानी है।

बहुत से बंधन थे। मजबूरी में गृहस्थ होना भी आवश्यक था। ब्राह्मण काफी अनुभव के बाद इस परिणाम पर पहुँचे थे कि जीवन एक विवशता है। इसमें वही करना है, जो वेद कहे। वेद के आगे कोई भी अपना अधिकार नहीं रखता था।

महाभारत के अनुसार संन्यास योगी के लिए आवश्यक है—

काम्य-कर्म का त्याग संन्यास है। सब कर्म फलों का त्याग ही त्याग है। त्याग त्रिविध है। यज्ञ, दान, तप का त्याग किसी तरह भी नहीं करना चाहिये। वे चित्त को शुद्ध करते हैं। आसक्ति और फल की इच्छा छोड़कर कार्य करना चाहिये। अर्थात् कर्त्ता के अभिमान को त्याग देना ठीक है। नित्य कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिये। वह मोह के कारण होता है, अतः तामस त्याग है।

अत्यंत दुखद समझकर शारीरिक क्लेश और डर के कारण किये गये कर्म के त्याग को राजस कहते हैं। राजस त्यागी व्यक्ति कभी त्याग का फल नहीं पा सकता। आसक्ति और फल की प्रत्याशा से बचकर अवश्य कर्त्तव्य समझकर। कर्म करना सात्विक त्याग है।

देहधारी पुरुष सब कर्मों का त्याग कर भी नहीं सकता। कर्म के त्रिविध फल हैं: इष्ट, अनिष्ट और इष्टानिष्ट। कर्म-सिद्धि के लिए तत्वनिर्णय करनेवाले सांख्य शास्त्र में शरीर, कर्त्ता, भिन्न-भिन्न इन्द्रियाँ,

भिन्न-भिन्न उनकी चेष्टाएँ और दैव, ये पाँच सब कर्मों के कारण कहे गये हैं।

जिसमें अहंकार का भाव नहीं है और जिसकी बुद्धि अलिप्त है, वह इन सब लोकों को मारकर भी नहीं मारता। उसे प्राणि वध का पाप भी नहीं भोगना पड़ता।

मनुष्य जिसके द्वारा सब विभक्त प्राणियों में एक ही अविभक्त अव्यय भाव देखता है वह सात्विक ज्ञान है जिसके द्वारा विभिन्न प्राणियों में भिन्न-भिन्न भाव दीख पड़ते हैं, वह राजस ज्ञान है। जो संपूर्ण सा. एक ही कार्य में संसक्त, अकारण, अल्प और तत्त्वार्थहीन है वह तामस ज्ञान है। भावी शुभाशुभ, अर्थक्षय हिंसा और पौरुष का विचार न करके मोह से जिस कर्म का आरंभ किया जाता है, वह तामस है। सकाम और अहंकारी व्यक्ति के द्वारा बड़े परिश्रम से किया गया कर्म राजस है। कर्तृत्व के अभिमान और कामना से शून्य मनुष्य के द्वारा राग और द्वेष छोड़कर किया गया कर्म सत्विक कहलाता है।

जिस सुख में अभ्यासवश जी लग जाता है और जिसे प्राप्त करने पर सब प्रकार के दुःख शांत होते हैं वह त्रिविध सुख है। जो पहले तो विष सा किन्तु परिणाम में अमृत सा होता है तथा जिसके द्वारा आत्मा और बुद्धि की प्रसन्नता होती है वही सात्विक सुख है। विषयों और इन्द्रियों के संयोग द्वारा जो पहले अमृत सा और अंत को विष सा जान पड़ता है, वह राजस सुख है। जो पहले भी और बाद में भी आत्मा को मोह में डालता है, तथा जो निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न होता है वह तामस सुख है।

इन्हीं प्राकृतिक गुणों के आधार पर चातुर्वर्ण्य का कर्म विभाग हुआ है। शम, दम, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिकता—ब्राह्मण के ; शूरता तेज, धृति, निपुणता अनुकूलता, युद्ध, दान, स्वाभिमान—

क्षत्रिय के; खेती, गो पालन, वनिज-व्यापार—वैश्य के; सेवा मात्र शूद्र के; स्वाभाविक कर्म हैं।

जैसे आग धूएँ से आच्छन्न रहती है, वैसे ही सब कर्म दोषों से आवृत हैं। दोषयुक्त होने पर भी अपने स्वाभाविक कर्म को न छोड़ो। अनासक्त, जितेन्द्रिय, स्पृहाशून्य व्यक्ति संन्यास द्वारा सब कर्मों की निवृत्तिरूप सत्वशुद्धि पाते हैं।

बुद्धि विशुद्ध करो। धैर्य्य द्वारा संयत करो। शब्दादि विषयों के भोग को त्यागकर राग द्वेष रहित बनो। हल्का आहार तथा एकांत उचित है। मन, वाणी, और काया की वृत्तियों को संयत करके वैराग्य का आश्रय और ध्यान तथा योग का अभ्यास करो। अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध, सङ्ग, संचय, ममता, अशान्त भाव, शोक, लोभ सबका त्याग करो। वही अपनी भक्ति के प्रभाव से मेरे (भगवान के) स्वरूप को और सर्वव्यापी भाव को जानकर अन्त में मुझी में लीन हो जाता है।

कोई किसी का नहीं है। यह केवल एक जाल है। बंधन है। मनुष्य भगवान का आश्रय लेकर कर्मों का अनुष्ठान करते हुए भगवद् कृपा के बल से मोक्षपद को प्राप्त होता है।

६

भिक्षु (बौद्ध) पूर्ववर्त्ती तथा परवर्त्ती

उस समय एक व्यक्ति एक दिन आलारकालाम नामक दार्शनिक के पास गया। किंतु उसका मन नहीं भरा। वह उद्दक रामपुत्त के निकट गया। अश्वघोष ने लिखा है कि वे सांख्यमत को माननेवाले थे। वह युवक सबको छोड़कर चला गया। उसने भीषण तपस्या की। अंत में

एक दिन उसे बोधि प्राप्त हुई और वह सिद्धार्थ तब बुद्ध के नाम से विख्यात हो गया।

ब्राह्मणों के भीषण कर्म-काण्ड से जब यज्ञ वेदियों पर रक्त की नदियाँ बहने लगी थीं, अहंकार सब पर छा गया था। योग की विधियों से बुद्ध का काम नहीं चला। उन्होंने वृद्ध की जर्जर देह, रोगी की यातना, मृत के लिये शोक, तथा संन्यासी के संसार त्याग को देखकर मन के हाहाकार को दबाने में असमर्थ होकर अपने घर को छोड़ दिया था।

उपनिषद् के ब्रह्म को बौद्ध मत में छोड़ दिया गया। गौतम ने महाशून्य की ओर देखकर कहा था : उधर न देखो। उसे नहीं जानते तो उस विषय से कुछ बनता बिगड़ता भी नहीं। जिस गाँव को जा नहीं सकते, उसका मार्ग पूछकर क्या मिलेगा ? सभी अपने-अपने अलग मार्ग बताते हैं।

दु:ख ही तो सबसे बड़ा सत्य है। चराचर, स्थावर, जंगम सब घूम रहे हैं।

बुद्ध ने सब कुछ छोड़ दिया। वेद को तो स्वीकार ही नहीं किया। ईश्वर की असिद्धि, तदनंतर नास्तिकता तक पहुँची हुई सत परंपरा ने अभी तक असली तथ्य को खोजकर भी उसे अधिक मुखर नहीं किया था। बुद्ध ने भी उसी तथ्य को ढूँढ लिया किंतु दूसरे ही रूप से उपस्थित किया।

बुद्ध ने चार आर्य सत्यों की शिक्षा दी—

दु:ख सत्य है। दु:ख का समुदाय सत्य है। दु:ख का निरोध तथा दु:ख निरोधगामी मार्ग सत्य हैं।

जन्म भी दु:ख है, बुढ़ापा भी दु:ख है। मृत्यु, शोक, रुदन, मन की खिन्नता, हैरानगी दु:ख हैं।

दु:ख का हेतु तृष्णा, काम हैं।

तृष्णा का निरोध दु:ख का निरोध है।

ज्ञान—प्रज्ञा, सदाचार—शील, योग—समाधि से वह मार्ग प्राप्त होता है जो दु:ख का निरोध मार्ग है।

इस संसार में अति पर चलने से कोई लाभ नहीं होता। इसीलिये बुद्ध ने मध्यमार्ग का अनुसरण किया। काया को इतना कष्ट देने से क्या मिलता है? फिर जो कुछ विलास है, उसमें भी मनुष्य इन्द्रियों का दास हो जाता है। वह रति का परिणाम भीषण दु:ख झेलता है। रागादि से द्वेष की उत्पत्ति होती है।

पुनर्जन्म के विषय में कुछ बौद्धों की उलझी हुई सी कल्पना है। जैसे दीपक से दीपक जलता है वैसे ही पुनर्जन्म होता है। क्रिया संघट्ट ही अंततोगत्वा व्यापार संघट्ट को जन्म देता है। यह परंपरा से एक भेद था, किंतु परलोक आखिर स्वीकार ही कर लिया गया था। यही वस्तु थी जिसके कारण बौद्धमत भौतिकवाद में परिणत होने से बच गया।

ब्राह्मण व्यवस्था का विरोध इसलिये ही नहीं किया गया कि हिमा थी, वरन् ब्राह्मण दंभ ही सब से बड़ी चीज़ थी, जिसने बुद्ध का हृद उधर से फेर दिया। संघ बन गये। भिक्षु संसार छोड़कर रहने लगे उनमें पहले कम से कम चीजें आवश्यकता के रूप में स्वीकार की गई पैदल चलना पड़ता था।

समानता की पुकार से धीरे-धीरे स्त्रियाँ भी इस ओर आ हुईं। उन्हें भी पिता, पति, पुत्र की आज्ञा मिल जाने पर संघों में जाने लगा। दास, सैनिक, ऋणी सबने संघ में आना चाहा, पर राजा, धनिक ने इसका विरोध किया। बुद्ध ने इसे भी टाल दिया पाँत का बंधन तोड़ दिया गया।

ज्ञान ही सब कुछ है, बुद्ध ने कहा। ज्ञान के पथ पर चलो से ही बंधन धीरे-धीरे कट जाते हैं। यदि किसी भी बात को अंति मान लिया जाये, तो उससे मनुष्य की जिज्ञासा की तृप्ति कहाँ होत

प्रत्येक वस्तु संसार में बदल रही है। एक भी क्षण कोई नहीं रुकता। इसीसे किसी का भी वह रूप स्थायी नहीं है जो सदा समझा जाता है।

आत्मा कहाँ है? कार्य व्यापार से बद्ध जो कुछ है वह सदैव अध्रुव है।

रूप अनात्मा है; वेदना अनात्मा है, संज्ञा, सस्कार, विज्ञान सारे धर्म अनात्मा हैं।

जब सब बदल रहा है तब यहाँ किसी को नित्य नहीं कह सकते।

शील, दया, करुणा, अहिंसा, संयम के बिना मनुष्य का कोई पथ नहीं है। वह व्यर्थ ही कष्ट उठा रहा है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध ने आधारस्वरूप मूल पर ही उँगली रखी थी। उन्होंने अभौतिक अनात्म को जन्म दिया। यह वास्तव में एक अत्यंत आगे बढ़ी अवस्था थी।

ईश्वर कोई नहीं है। उसके विषय में सब लोग अपनी-अपनी धारणाएँ लिये फिरते हैं। किसी ने उसे देखा नहीं है। उसके नाम पर ही बहुत सी रूढ़ियाँ हैं। जैसे अंधों की पाँति एक दूसरे से जुड़ी हो, पहिलेवाला भी नहीं देखता, बीचवाला भी नहीं देखता, पीछेवाला भी नहीं देखता।

.........मैंने अव्याकृत कहा, क्योंकि यह सार्थक नहीं, भिक्षु चर्य्या के लिये उपयोगी नहीं; न यह निर्वेद, वैराग्य, निरोध—शान्ति परमज्ञान, निर्वाण के लिये आवश्यक है। इसलिये बुद्ध ने लोक, जीव शरीर की एकता, निर्वाण के बाद की अवस्था को अकथनीय कहा।

कोई सर्वज्ञ नहीं। जो यह दावा करता है वह झूठ बोलता है। वे यथार्थ में विश्वास करते थे।

ऐसा श्रमण ब्राह्मण नहीं है जो एक ही बार सब जानेगा, सब देखेगा, सर्वज्ञ सर्वदर्शी होगा।

सब कुछ एक प्रवाह के समान बह रहा है। इसमें से विच्छेद ही निर्वाण है। पुराने तेल-बत्ती या ईंधन के जल चुकने तथा नये की

आमदनी न होने से जैसे दीपक या अग्नि बुझ जाती है, चित्त मलों के क्षीण होने पर यह आवागमन नष्ट हो जाता है।

निर्वाण बुझ जाना है।

बुद्ध जितना आगे ले गये: उतनी ही उनके पथ में इधर-उधर उतरने की राहें रह गईं।

यह हीनयान कालांतर में महायान में परिवर्त्तित हो गया।

अब जो निर्वाण पहले बहुत कठिन था वह सबको बाँटा जाने लगा था। वाहन पर चढ़ना प्रारंभ हो गया। संयम टूट गया। उस समय बहुत सी जातियाँ बाहर से आ गईं। उत्तर से यक्षवाद का विलासी प्रभाव पड़ा जो सिद्धि के चमत्कार लेकर आ गया। बौद्धों में अनेक प्रकार के दार्शनिक हुए। क्या बात थी? कहाँ जा पहुँची?

इसी परंपरा में हम देखते हैं यंत्रयान के बाद वज्रयान घुस आया।

कालांतर में बुद्ध तथागत हो गये और गुह्यक शास्त्र के साथ आ गये।

महाद्भुतेषु धर्मेषु आकाश सदृशेषु च
निर्विकल्पेषु शुद्धेषु संवृत्तिस्तु प्रगीयते।

शून्य जब सत्ता मान लिया गया तब उसकी ओर अधिकतम आसक्ति होने लगी। शून्य आकाश था। वह स्वच्छ था। अनाविल। उसमें राग द्वेष उठते थे और मिलकर लय हो जाते थे। वह एक सीमाहीन विराट प्रसार था, जिसने मनुष्य के हृदय को अपनी ओर वेग से आकर्षित करना प्रारंभ किया।

अनादिनिधनंशान्तं भावाभावक्षयं विभुम्
शून्यताकरुणाभिन्नं बोधिचित्तमिति स्मृतम्

शून्यता के साथ दूसरी वस्तु जो उसमे अभिन्न हो गई वह मनुष्य की करुणा थी। संसार में लोग दुखी हैं क्योंकि यहाँ द्वेष और घृणा की

प्रत्येक वस्तु संसार में बदल रही है। एक भी क्षण कोई नहीं रुकता। इसीसे किसी का भी वह रूप स्थायी नहीं है जो सदा समझा जाता है।

आत्मा कहाँ है? कार्य व्यापार से बद्ध जो कुछ है वह सदैव अध्रुव है।

रूप अनात्मा है; वेदना अनात्मा है, संज्ञा, सस्कार, विज्ञान सारे धर्म अनातमा हैं।

जब सब बदल रहा है तब यहाँ किसी को नित्य नहीं कह सकते।

शील, दया, करुणा, अहिंसा, संयम के बिना मनुष्य का कोई पथ नहीं है। वह व्यर्थ ही कष्ट उठा रहा है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध ने आधारस्वरूप मूल पर ही उँगली रखी थी। उन्होंने अभौतिक अनात्म को जन्म दिया। यह वास्तव में एक अत्यंत आगे बढ़ी अवस्था थी।

ईश्वर कोई नहीं है। उसके विषय में सब लोग अपनी-अपनी धारणाएँ लिये फिरते हैं। किसी ने उसे देखा नहीं है। उसके नाम पर ही बहुत सा रूढ़ियाँ हैं। जैसे अंधों की पाँति एक दूसरे से जुड़ी हो, पहिलेवाला भी नहीं देखता, बीचवाला भी नहीं देखता, पीछेवाला भी नहीं देखता।

.........मैंने अव्याकृत कहा, क्योंकि यह सार्थक नहीं, भिक्षु चर्य्या के लिये उपयोगी नहीं; न यह निर्वेद, वैराग्य, निरोध—शान्ति परमज्ञान, निर्वाण के लिये आवश्यक है। इसलिये बुद्ध ने लोक, जीव शरीर की एकता, निर्वाण के बाद की अवस्था को अकथनीय कहा।

कोई सर्वज्ञ नहा। जो यह दावा करता है वह झूठ बोलता है। वे यथार्थ में विश्वास करते थे।

ऐसा श्रमण ब्राह्मण नहीं है जो एक ही बार सब जानेगा, सब देखेगा, सर्वज्ञ सर्वदर्शी होगा।

सब कुछ एक प्रवाह के समान बह रहा है। इसमें से विच्छेद ही निर्वाण है। पुराने तेल-बत्ती या ईंधन के जल चुकने तथा नये की

आमदनी न होने से जैसे दीपक या अग्नि बुझ जाती है, चित्त मलों के क्षीण होने पर यह आवागमन नष्ट हो जाता है।

निर्वाण बुझ जाना है।

बुद्ध जितना आगे ले गये, उतनी ही उनके पथ में इधर-उधर उतरने की राहें रह गईं।

यह हीनयान कालांतर में महायान में परिवर्त्तित हो गया।

अब जो निर्वाण पहले बहुत कठिन था वह सबको बाँटा जाने लगा था। वाहन पर चढ़ना प्रारंभ हो गया। संयम टूट गया। उस समय बहुत सी जातियाँ बाहर से आ गईं। उत्तर से यक्षवाद का विलासी प्रभाव पड़ा जो सिद्धि के चमत्कार लेकर आ गया। बौद्धों में अनेक प्रकार के दार्शनिक हुए। क्या बात थी? कहाँ जा पहुँची?

इसी परंपरा में हम देखते हैं मंत्रयान के बाद वज्रयान घुस आया।

कालांतर में बुद्ध तथागत हो गये और गुह्यक शास्त्र के साथ आ गये।

महाद्भुतेषु धर्मेषु आकाश सदृशेषु च
निर्विकल्पेषु शुद्धेषु संवृत्तिस्तु प्रगीयते।

शून्य जब सत्ता मान लिया गया तब उसकी ओर अधिकतम आसक्ति होने लगी। शून्य आकाश था। वह स्वच्छ था। अनाविल। उसमें राग द्वेष उठते थे और मिलकर लय हो जाते थे। वह एक सीमाहीन विराट प्रसार था, जिसने मनुष्य के हृदय को अपनी ओर वेग से आकर्षित करना प्रारंभ किया।

अनादिनिधनंशान्तं भावाभावक्षयं विभुम्
शून्यताकरुणाभिन्नं बोधिचित्तमिति स्मृतम्

शून्यता के साथ दूसरी वस्तु जो उससे अभिन्न हो गई वह मनुष्य की करुणा थी। संसार में लोग दुखी हैं क्योंकि यहाँ द्वेष और घृणा की

प्रचंड ललकार सुनाई देती है। करुणा में न केवल दुःख की सतत रहने-वाली सत्ता की स्वीकृति थी वरन् एक आत्मसंतोष भी था।

त्वं वज्रचित्त भुवनेश्वर सत्त्वधातो
त्रायाहि मां रतिमनोज्ञ महार्थ कामै :
कामाहि मां जनक सत्त्व महाग्रबन्धो
यदीच्छसे जीवितं मंजुनाथ :
त्वं वज्रकाय बहुसत्त्व प्रियाङ्क चक्र
बुद्धार्थ बोधि परमार्थ हितानुदर्शी
रागेण राग समयं मम कामयस्व
यदीच्छसे जीवितं मंजुनाथ :
त्वं वज्रवाच सकलस्य हितानुकम्पी
लोकार्थ कार्य करणे सद संप्रवृत :
कामाहि मां सुरतचर्य्य समन्तभद्र
यदीच्छसे जीवितं मंजुनाथ :
त्वं वज्रकाय समयाग्र महा हितार्थ
संबुद्धवंशतिलकः समतानुकम्पी
कामाहि मां गुणनिधिं बहुरत्नभूतम्
यदीच्छसे जीवितं मंजुनाथ :

साधक की इस प्रार्थना में अपने राग द्वेष के अतिरिक्त दूसरों के सुख की बहुत अधिक चिंता है। कथा है कि बोधसित्व ने निर्वाण ठुकरा दिया था क्योंकि संसार बंधन में पड़ा हुआ था।

यह एक विस्मय का विषय है कि इस व्यक्ति सुख की चरम चर्म सुख तृप्ति होने के बावजूद साधक की दृष्टि से यह अभी ओझल नहीं हो सका था कि उसका एक सामाजिक पक्ष भी है।

वज्रयान ने जात-पाँत को अत्यंत उच्छृङ्खलता से ठोकर दी। इसके अधिकांश संत उन जातियों के लोग थे जो निस्संदेह ब्राह्मण व्यवस्था के

अनुसार अत्यंत नीच गिने जाते थे, जिन्हें उस व्यवस्था में कोई अधिकार नहीं थे।

शून्यता दुल्हिन है। इसकी छाया ही इसका वर है। बिना वर के दुल्हिन मृत के समान है। यदि वधू अलग कर दी जाये तो दूल्हा बंधनों में पड़ जाता है। इसलिये दोनों भयभीत होकर अपने गुरु के पास गये और गुरु ने दयालु होने के कारण उन्हें एक स्नेह दिया—जो सहज था, जो अनादि अनंत है। वही सदोदित सर्वभावस्वभाव निःस्वभाव है।

प्रतिबिंब विभं पश्यन् जगत् शुद्धमनाविलम्
मायापुरुषवत् सर्वं कुर्य्यादनुपलम्भतः।

यह सारा संसार एक छाया है। इसे वास्तविकता मान लेना एक भूल है।

यः प्रत्ययैर्जायति सह्यजातो
न तस्य उत्पाद स्वभावतोऽस्ति।
यः प्रत्ययाधीन स शून्य उक्तः
यः शून्यतां जानति सोऽप्रमत्तः

जो शून्यता को जानता है वही वास्तव में पहुँचा हुआ है। उसका प्रमाद नष्ट हो चुका है।

न मन्त्रजापो, न तपो, न होमो
न माण्डलेयं न च मण्डलं च।
स मन्त्रजापः स तपः स होमः
तन्माण्डलेयं तन्मण्डलं च।

इसीलिये चरमावस्था में परमार्थ दृष्टिकोण से यदि देखा जाये तो किसी की भी आवश्यकता नहीं है। पर जैसे मूर्त्तिपूजा ध्यान के लिये आवश्यक है संसार में इस सबकी भी आवश्यकता होती ही है।

शून्यता कृपयावैक्यं विधेयं न स्वकल्पतः
शून्यतायाः प्रकाशस्य प्रकृत्यायुगनद्धता ।

युग नद्ध ! स्त्री पुरुष की नग्नावस्था में संभोग रत काया—यही वज्रयान की समस्त रूपरेखा का एक संक्षिप्त सारांश है ।

चीन में भी यह परम्परा फैली । मेरा अपना विचार है कि यह वास्तव में उत्तर पूर्व से ही इस देश में आकर फैली । पहाड़ी जातियों की पुरानी यक्ष परम्परा. जहाँ स्त्री-पुरुष अब भी मैदानों से अधिक स्वतंत्र हैं, वहीं से यह आकर यहाँ पनप गई और उत्तर दक्षिण पूर्व पश्चिम में व्याप्त हो गई । उपासना होने लगी ।

प्रज्ञापारमिता सेव्यासर्व्वथा मुक्ति कांक्षिभिः
परमार्थे स्थिता शुद्धा संवृत्या तनुधारिणी
ललनारूपमास्थाय सर्व्वत्रैव व्यवस्थिता
ब्राह्मणादिकुलोत्पन्नान् मुद्रांवै अन्त्योद्भवान
जनयित्री स्वसारं च स्वपुत्री भागिनेयकाम्
कामयेन् तत्त्वयोगेन लघु सिध्येत् साधकः

प्रज्ञापारमिता की उपासना के रूप में यह स्पष्ट था कि वह परमार्थ के लिये थी । यहाँ माता, भगिनी स्वीकृत हुईं । यह सब बुद्ध की परम्परा में थे । अपने विश्वासों में अनन्यरत यह सिद्ध वहु दुःख राशि को नष्ट करने में लगे थे ।

अतश्च नातः परमस्ति किञ्चित्
निमित्त भूतं वहुदुःख राशेः
अनंत सौख्योदय हेतुभूतं
मुमुक्षवो नास्ति ततः परं च ।
अशेष दुःख क्षय वद्ध कक्षैः
सम्बुद्ध सत्सौम्यमवाप्तुकामैः

चित्तं स्थिरीकृत्य विचार्य्यं यत्नात्
तस्य स्वभावः क्रियतां स्वभावः

मुक्ति आवश्यक थी। और उसके लिये किसी भी अवस्था में चित्त को स्थिर करना आवश्यक था।

स्त्रियंसर्वकुलोत्पन्नां पूजयेद् वज्रधारिणीम्।

स्त्रियों के लिये अत्यंत आसक्ति से द्वार खोल दिया गया। प्रत्येक स्त्री, माता हो, भगिनी हो स्वीकृत थी। उसके बिना साधना असंभव हो गई। मद्य, मांस, मुद्रा, मैथुन तथा मीन, यह पंचमकार आवश्यक हो गये।

उत्पादयामि परमं वर बोधि चित्तं निमन्त्रयामि बहु सर्व्वसत्त्वान्
इष्टां चरिष्ये वरबोधिचारिकां बुद्धोभवेयं जगतोहिताय।

किंतु साधक संसार का भला करना फिर भी नहीं भूले। उन्हें संसार के कष्टों ने द्रवित किया था। आसक्ति था, पर उसी से निवृत्ति खोजी जा रही थी। तंत्र, मत्र, तथा बहु देवताओं की पूजा होने लगी। आज उनमें से बहुत से देवता मर गये हैं।

अनेन चाहं कुशलेन कर्मणा
भवेय बुद्धो न चिरेण लोके
देशेय धर्मं जगतो हिताय
मोचेय सत्त्वान् बहुदुःख पीड़ितान्।

इस प्रकार बहुदुःख पीड़ितों को मोचन दिलाने वज्रयानी युग नद्धावस्था में डूब गये।

७

जैन श्रावक तथा लोकायत

तीर्थङ्करों में महावीर पहले-पहल नहीं थे। जैन पुस्तकों और

परम्पराओं से ज्ञात होता है कि उनके पीछे एक पुरानी पृष्ठ भूमि थी। यह याद रखना आवश्यक है कि जैन विचारधारा गणतंत्रों के क्रोड़ में फली-फूली थी। जैनों की एक समय ब्राह्मणों से जबर्दस्त लाग डाट थी। जैनों को वास्तव में सांख्य और बुद्ध के बीच में रखना ठीक होगा। जैन आत्मा को मानते हैं। परमात्मा का कर्तृत्व नहीं मानते।

महाकवि दण्डी ने जैनों की दिनचर्य्या का मज़ाक उड़ाया है कि वे हाथों से सिर के तथा काँख के बाल नोंच डालते हैं। जीव-हिंसा न हो, इसलिये पानी छानकर पीते हैं। यह भी एक सत्य है कि बुद्ध और महावीर दोनों क्षत्रिय थे। इन्होंने ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड की हत्याओं के विरुद्ध अहिंसा को बहुत फैलाया; इसमें व्यंग्य यह कि जीव-दया के हामी ब्राह्मण तो हत्या करते थे, और जिन क्षत्रियों को हत्या करने का अधिकार था, वे अहिंसा फैला रहे थे।

यह तो सत्य है कि ईश्वर नहीं है; किन्तु मनुष्य इस पृथ्वी पर अनेक पाप करता है। भव एक कान्तार है। दुःख है। इसमें जैन ही सबसे ठीक रास्ते पर हैं—

अइ सयपा वियपा वाधम्मि अपव्वे सुतो विपावरया।
न चलन्ति सुद्धधमार धन्ना किविपावपव्वेसु।

जैन विरोधी का तो दर्शन भी नहीं करना चाहिये। क्षमा करो, दया करो, किसी को दुःख न दो। इद्रियों पर विजय प्राप्त करो। स्त्री को बहुत दूर रखो। रागद्वेष से परे हो जाओ और—

तिहुअण जणं मरंतं दट्ठूण निअन्तिजेन अप्पाणं।
विरमंतिन पावा उधिद्धी धिठत्तणं ताणम्।

कृषि और व्यापारादि नरक में ले जाते हैं, ये कर्म! इन्हें तो मृत्यु पर्य्यंत यदि दुःख ही दुःख मिलते रहें तो भी नहीं करना चाहिये। अपने आपको पहले सांसारिक जालों से दूर करके निर्मल कर लो। इसके

लिये ज्ञान ही तुम्हारी सहायता कर सकता है और कुछ नहीं। योग ज्ञान को एकाग्र करता है। अनेक भवान्तर में शरीर उत्पन्न हुआ है। आत्मा बार-बार भटक रही है। उसके कर्मों का कहीं अंत ही नहीं है। वह क्यों अवरुद्ध है ? क्यों मुक्त नहीं होता ?

छोड़ दो यह जंजाल। दिगम्बर रहो। किसी प्रकार का भी आवरण नहीं चाहिये। संयम से रहो। कठोर तप करो। ऐसा कि वासना की जड़ें जल जायें। नाक और मुँह से भी कीड़ों की हत्या न करो, मांस न खाओ। संभव है वे उड़कर तुम्हारे भीतर पहुँच जायें। और भी खाना आदि न पकाओ। भिक्षा प्राप्त करो और रहो। भिक्षा की इस परम्परा को जैनों ने वैसा ही स्वीकार कर लिया जैसा अन्य संत किया करते थे। वास्तव में यह काया ही नरक है :

माणुसु देहु होइ घिणि विट्टलु। सिरहिं णिवद्धउ हड्डह पोट्टलु।
चलु कुजतु मायमउ कहेंडउ। मलहों पुन्जु किमि-कीडहु सूडउ
पुइगंध रुहीरामिस भंडउ। चम्म रुक्खु दुग्गंध करडउ।

मानुस देह घृणित है। सिर तो हड्डी की पोटली समझनी चाहिये। सड़ता हुआ माया भरा कचरा। मल का पुन्ज। चर्म वृक्ष। आँत की पोटली पक्षियों का भोजन है। घर से निकाल कर श्मशान में इस देह को फेंक दिया जाता है। इन्द्र-धनुष के समान इसका अस्थिर स्वभाव है। जिस प्रकार बिजली चमकती है, इसके भीतर क्षणिक भाव उठते हैं।

वे सुन्दर लगनेवाले गजगामी चरण, वे सुरत के प्रिय सुहावनेनितंब, वह नाभि प्रदेश. वह कृश उदर, वे यौवन के आलिंगन, सुन्दर मुख, अधरबिंब, दोनों नयन, चिकुरभार, वे गाढ़ालिंगन ये बद्ध होनेवाले स्तन, सब में कीड़े पड़ जाते हैं, सड़ जाते हैं, झरते हैं, खाल खिंच जाती है, पीब पड़ जाती है, भयानक होता है उनका अंत।

गर्भ में रहकर हे मनुष्य तू रुधिर जल पीता है। एक-एक मास करके

उस कुरूपावस्था में भीतर अवरुद्ध सा बंद रहता है। क्यों नहीं तू स्वतन्त्र होता! इस भाव संसार में भ्रमण करता हुआ तू नहीं थकता। मूर्ख! ईश्वर को मत ढूँढ़। यह आवागमन दुःख तेरा ही अपना है। चारों ओर संसार घूम रहा है। आते हैं, जाते हैं, मर जाते हैं। रुदन, संताप, मृत्यु, हाहाकार, भ्रमण, और साथ ही सुरत, मोदन, इसी कारण तो तीनों लोक में अशांति है।

बार-बार रूपांतर धरकर यहाँ जन्म-मरण की परम्परा खेल रही है। तू किसका भाई, बाप, संबंधी है? वह किसकी माँ, बहिन, पत्नी, पुत्री है? स्वप्न से मोह न कर। जिन वचन अंकुश हैं, उन पर ध्यान दो। अन्यथा मनुष्य को मनुष्य ही खा जायेगा।

संसार तुच्छ है। घृणित है। जो संसार का उपसंहार करता है, वह जैसे काले भुजंग से छूट जाता है।

तहों जहि जहि कहिम्मि दिट्ठि रमइ।
तहि तहि णं भइय पड्डु भमइ।

जहाँ-जहाँ दृष्टि जाती है वहाँ मानों वह एक भयानक भयावर्त्त में पड़कर डोल उठती है। यहाँ कहीं नरक का सा दृश्य है। कहीं क्षय हो रहा है। कोई सब प्रकार के मांस खा रहा है। सचमुच इस संसार में सुख नहीं है। जलबिंदु के समान ही यह जीवित समझा जाये तो ठीक है। कहाँ है घर, परिजन, बंधुजन, मा-बाप, हितकारी, पुत्र, मित्र, घरनी, भाई, सहोदर, बहिन। स्नेह त्याग दो। गर्व खंडित करो। मोह से मनुष्य रति में बँधता है। दुनिया में जीते में कोई किसी का सहारा नहीं है। सब यहीं धरे रह जायेंगे। एक अकेले भव-समुद्र में घूमना पड़ता है। अकेले ही दुःख-सुख भोगने पड़ते हैं। अकेले ही बंध हैं। अकेले ही मोक्ष मिलता है।

एक्कहों जे पाउ एक्कहों जे धम्मु।
एक्कहों जे मरणु एक्कहों जे जम्म।

कर्मकांड व्यर्थ है। ब्राह्मण झूठ कहता है। परमात्मा कुछ नहीं करता। तुम स्वयं अपने बंधन तोड़ो। यदि मनुष्य के कर्मों का फल नहीं, तो संसार में इतना भेदभाव क्यों है? धर्म हो तो ऋद्धि-वृद्धि होती है। पाप हो तो नर दरिद्र रहता है। एक ओर राज्य करता है, ठाठ पाता है, सुख पाता है, दूसरी ओर नरक यातना अंधापन, बहिरापन. आदि मिलते हैं। किसे दर्पण बनायें? जहाँ अपना प्रतिबिंब नहीं दीखता! तंत्र-मंत्र व्यर्थ हैं।

संसार भमंतहु कवणु सोक्खु। असुहावउ पावइ विविह दुक्खु।
णरयाल इँ (नरकालय) णाणा णारएहिं। चिर कियहिं णिहम्मइ (नष्ट) वइरएहिं

संसार भ्रमण में क्या सुख है? यहाँ नरक मे भी अधिक यातना है। इसलिये घर-वास में न जाओ यह दुष्कृत वास है—

पासु कपंते मंडियउ अविचल णवि संदेहु।

इसी समय भारत की एक और धारा हमें दिखाई देती है। कुछ लोग प्रश्न कर सकते हैं कि इनको सन्तों में क्यों स्थान दिया गया। इस प्रश्न का उत्तर स्वयं पुराणकार दे गये हैं जिन्होंने इसी संप्रदाय के आचार्य्य को महर्षि कहकर स्वीकार कर लिया था। यह भी एक तरीके से जीवन को सुखी बनाने का प्रयत्न था। कोई राजा या तलवार का अधिकार नहीं था। ऊपर जाबालि और बृहस्पति का वर्णन किया जा चुका है। निस्संदेह यह बृहस्पति कोई दूसरे ही होंगे। किन्तु इनकी वाणी फूट पड़ी—

यावज्जीवेत्सुखं जीवेन्नास्ति मृत्युरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।

अर्थात् जब तक जिये तब तक सुख से जिये। मृत्यु से अगोचर कुछ भी नहीं है। जो देह भस्म हो गई. उसका इस संसार में फिर से आगमन कैसे हो सकता है। चारवाक कहते हैं:

अग्निरुष्णो जलं शीतं शीतस्पर्शस्तथाऽनिलः
केनेदं चित्रितं तस्मात्स्वभावात्तद् व्यवस्थितिः।
न स्वर्गो नाऽपवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फल दायिकाः।

• अग्नि ऊष्ण है. जल शीत है। हवा का स्पर्श ठंडा है। कोई इनका कर्त्ता नहीं। स्वभाव से ही ये ऐसे हैं, यही इनकी व्यवस्थिति है। स्वर्ग नरक, आत्मा, परलोक, वर्णाश्रम आदि क्रियाओं की फलदायिकता कोई कुछ नहीं है। सब झूठ है।

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टो मे गमिष्यति
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते।
मृतानपि जन्तूनां श्राद्धं चेतृप्ति कारणम्
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेय कल्पनम्।

यदि यज्ञ में मरा पशु स्वर्ग जाये, तो यजमान अपने पिता की हत्या क्यों नहीं करता? यदि श्राद्ध में भोजन से पितर तृप्त हों तो यात्री भोजन क्यों करे? कोई बैठकर खा लिया करे। उसका पेट भर जायेगा।

स्वर्गस्थिता यदि तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः
प्रसादस्यो परिस्थानामत्र कस्मान्न दीयते।
यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिवेत्
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः

दान यदि ऊपर उठकर स्वर्गस्थितों में पहुँचे, तो नीचे के घर में दान प्रसाद से ऊपरवालों को क्यों नहीं मिल जाता? जब तक जियें सुख से जिये। कर्जा लेकर भी मदिरा पियें अथवा घी पिये। भस्म होने पर कौन लौटता है?

यदि गच्छेत्परं लोकं देहादेव विनिर्गतः
कस्माद्भूयो न चायाति वन्धुस्नेह समाकुलः

ततश्च जीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह।
मृतानां प्रेत कार्याणि न त्वन्यद्विद्यते कचित्।
त्रयो वेदस्यकर्त्तारो भण्डधूर्त्त निशाचराः
जर्फरी तुर्फरी त्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्।

देह से निकल अन्य लोक जाने पर भला, बन्धु स्नेह से आकुल होकर जीव फिर क्यों नहीं लौटता ? यह तो ब्राह्मणों ने खाने-कमाने का डौल किया है। मृत के प्रेत कार्य्य साधन हैं। और कुछ भी नहीं है। वेदों के बनानेवालों के लिये तीन शब्द हैं—भण्ड, धूर्त्त, निशाचर। जर्फरी तुर्फरी ब्राह्मण पंडितों के धूर्त्तता के शब्द हैं।

चारवाक से मिलते-जुलते ही आकाणक भी कहे जाते हैं ?

इस सिद्धांत में एक उछृङ्खलता फैलाने की शक्ति थी तो समाज को उलट-पुलट कर देने की भी। इसमें दुःखी को सुख के प्रयत्न की भी आशा थी, और सबल के दुर्बल को बुरी तरह कुचल देने की भी।

प्रश्न उठता है कि पुराणकारों ने चारवाक की महानता कैसे स्वीकार की। वैसे तो इसका सरल उत्तर है कि पुराणकार ने जनमत देखकर काम किया है। सब विघ्नेश्वर गणेश अपनी प्रथम पूजा मनवाकर ही रहे। परन्तु चारवाक के साथ एक और बात भी थी।

देह दुःख का डेरा था। संसार दुःख का डेरा था। मनुष्य आपत्तिपूर्ण था। सब कहते थे, देह छोड़ो, संसार छोड़ो। आपत्ति छोड़ो इसके अतिरिक्त भी कुछ है। चारवाक कहते थे—यह तो होना ही है। जो कुछ थोड़ा-बहुत है यहीं भोग लो। फिर कौन जाने, क्या होगा क्या नहीं ? किसने देखा। चारवाक का भौतिकवाद संसार जाल से दूर नहीं है। बाकी सब भी जाल ही है। कोई कुछ कहता है कोई कुछ। किसकी मानी जाये। ऋण करके भी मस्त क्यों न रहा जाये ? देह नश्वर है तो वह तो नश्वर है। क्या किया जाये ?

मनुष्य का दुःख ही सबसे बड़ा कारण है जिसके कारण चारवाक ने इतनी बड़ी बात इतनी कटुता के साथ कह डाली। मारिश चारवाक ने अपना एक नया पथ बनाया था। उसे कुछ भी अन्य नहीं दीखता था। न योग, न तप न दीक्षा, न वेश। धर्म और अधर्म ही, पुनर्जन्म, संस्कार ही मनुष्य को बांधे हुए थे। जिस प्रकार अब तक मनुष्य के बंधन संसार, देह, थे, उसी प्रकार चारवाक ने भी मूलतः वही सिद्ध किया। यह सच है कि दुःख है। पर सुख को ही उस में से झटककर खोजकर निकालो।

चारवाक ने यह बधन तोड़े क्योंकि उसे संसार और देह की रक्षा करनी थी। चारवाक पूरी भारतीय संस्कृति में एक ही प्रमुख व्यक्ति है, जिसने दुःखी और त्रस्त मनुष्य के लिये दुःख निवारण का सीधा रास्ता बताया। इसके पीछे जनमत चल पड़ा तभी इसका मत का नाम लोकायत रखा गया।

इन्हीं चारवाक के अनुयायियों ने आनंदोत्सव प्रारभ किया जिसका परिणाम आज होली के रूप में मिलता है, जिसे कालांतर में मुख्यतया शूद्रों का त्यौहार मानकर स्वीकार कर लिया गया। यह लोकायत अपने समय में एक बहुत बड़ी शक्ति थी। इनका प्रभाव अन्य सम्प्रदायों पर भी पड़ा। आगे चलकर जो एक अनेक सम्प्रदायों की खिचड़ी सी दिखाई देती है, उसका कारण यही है कि विलास, अनात्म, भौतिकवाद, क्षणिकवाद, ब्राह्मण विरोध, खंडनात्मकता नास्तिकवाद तथा देहवाद, यह सब अलग-अलग अन्य कई सम्प्रदायों में एक-एक करके बँट गये। जिसमें जो भी विशेषता थी, उसने इनका वही पक्ष अपने भीतर बढ़ा लिया और लोकायत सम्प्रदाय धीरे-धीरे बँट गया। शनैः-शनैः उसका बाह्य अस्तित्व आँखों के सामने से उठ गया।

चारवाक देखने पर समस्त संत-परंपरा में सबसे अलग दिखाई देते हैं। वास्तव में वे एक पुरानी धारा के पूर्ण विकास हैं। एक समय पर एक क्षेत्र में विकास कर लेने पर वह धारा बँट गई। बौद्ध और जैन जिस

प्रकार सांख्य संतों से आगे थे, वैसे ही लोकायत और भी आगे बढ़ आये।

८

पाशुपत धर्म तथा ब्राह्मण धर्म

पाशुपत धर्म के विषय में अधिक नहीं मिलता। यह लोग शिव को पति मानते थे और जीव को पशु। शिव पशुओं के पति हैं। वे ही उसे इस संसार के भयानक बन्धनों से छुटकारा देते हैं। अन्यथा वह विचारा बंधा हुआ भटकता फिरता है। ऊपर शिव के उपासकों का वर्णन किया जा चुका है। पाशुपत के संत उसी परम्परा के लोग थे। लकुलीश भी इसी सम्प्रदाय के निकटस्थ माने जाते हैं। पाशुपत वैदिक, तांत्रिक और मिश्र तीन प्रकार के होते थे यह ऊपर के वर्णन में हम इङ्गित कर चुके हैं।

यह लोग बड़े-बड़े अजीब काम करते थे। स्त्री को देखकर काम
चेष्टा करना, लँगड़ाकर चलना, कुछ ऐसा काम करना जिससे इन्
पागल समझा जाये यही इनका ध्येय था। इसका कारण था कि इ
मत्त हो जाना चाहिये, संसार को भूल जाना चाहिये। शिव सब बंध
के परे हैं। वे तो स्वयं श्मशान में रहते हैं। श्मशान में रहने का
है अपनी चित्तवृत्ति की समस्त रागात्मिक वृत्ति का दहन कर दे
इसलिये जो उनकी भक्ति करता है उसे भी उसी पथ पर च
चाहिये।

ईसा की दसवीं शताब्दी में यह धर्म संप्रदाय समाप्त हो गया
समय में इसके अनुयायी न केवल भारत में वरन् फ़ारस तक
पाशुपत धर्म को एकांगी रूप में देखना अनुचित होगा। वास्त
समय बड़ा अद्भुत था। इस समय कई शैव संत दिखाई देते

से कुछ बौद्धों से भी मिल गये हैं। कुछ ब्राह्मणों पर भी उनका प्रभाव छा गया है। ऊपर वज्रयान का वर्णन किया जा चुका है। प्राचीन यक्ष जाति के विलासी जीवन ने उत्तर से जो फिर से द्वार खुला पाकर आक्रमण किया, विदेशी जातियों के आगमन से मिलकर वह शैव और बौद्ध जीवन पर समा गया।

अघोर जीवन से विरक्त भक्ष्याभक्ष्य खाकर रहा करते थे। उनके लिये कोई कैसी भी मर्य्यादा नही थी। इसी प्रकार नर-बलि देनेवाले काला मुख तथा कापालिक, भैरवी पूजक, नाथ संप्रदाय की पुरानी परम्परा के संत तथा कौलमार्गी छा गये थे। इनके अतिरिक्त बहुत ही स्पष्ट रूप से सौर, गाणपत्य तथा अन्य परम्पराओं के भी उल्लेख मिलते हैं। वज्रयान और सहजयान में जहाँ एक ओर शून्य और संभोग था, महासुख था, वहाँ इस शक्ति मार्ग में भी था। किन्तु मुख्य स्त्री पूजा ही थी। वज्रयान में तन्त्र-मन्त्र था, सहजयान उसका विरोधी था। बीच का यह शक्ति मार्ग एक सामञ्जस्य था। इनमें योग तथा कुछ-कुछ प्राणायाम और कुण्डलिनी ज्ञान का भी प्रयोग था। वास्तव में हम इन्हें और सब छोड़कर तंत्र के माननेवाले संत कह सकते हैं।

शिव और पार्वती की संसार को मुक्त करने की जो बातचीत है, क्रियाविधि है वहाँ इनका अपार प्रसार है। इनमें एक पूरा का पूरा समुदाय चीनक्रम कहलाता था। उस में अनेक छोटे-छोटे उपभेद थे। ये ब्राह्मणों के घोर विरोधी थे। एक शिव निरंजन सत्ता को मानते थे। दार्शनिक रूप से यद्यपि शंकर से बहुत दूर न थे, परन्तु 'शक्ति' से ही संसार चलता था। भग-पूजा इनका मुख्य ध्येय था। इस परम आसक्ति के पीछे एक विराट् मातृरूप की व्यंजना थी, यद्यपि अभिधा में कुल योगिनियों से संभोग सुख ही इनका व्यवहार था। इन संतों की अवस्था समझे बिना परवर्त्ती संतों की पृष्ठ भूमि नहीं मिल पाती। यहाँ शिव थे, पर शून्य थे। शक्ति ही सबसे बड़ी थी। उसी की उपासना इसलिये

अत्यंत आवश्यक थी। कौल साधकों ने भी प्रार्थना की है कि यह संसार किसी प्रकार सुखी हो जाये। साधन है। वह एकमात्र है शक्ति को प्रसन्न करना। असंख्य देवियाँ पैदा हो गईं। इस समय हमें दिखाई देता है :

वामे रामा रमणकुशला दक्षिणे पान पात्रं
मध्येन्यस्तं मरीच सहितं शूकरस्योष्णमांसम्
स्कन्धे वीणा ललित सुभगा सद्गुरूनां प्रपंचः
कौलो धर्मः परम गहिनो योगिनीनामप्यगम्यः।

बाईं ओर युवती स्त्री हो, जो संभोग करने में कुशल हो, और दाँयें हाथ में शराब का प्याला हो। सामने दोनों के बीच में गर्मागर्म सूअर का मसालेदार मांस रखा हो। कंधे पर वीणा लटक रही हो, सुन्दर सुभग। सद्गुरु का प्रपञ्च है। यह कौल धर्म है। परम गहन है। योगी भी इसे सरलता से नहीं पा सकते, उनके लिये भी अगम्य है।

आसक्ति और मस्ती के इस पक्ष से जिज्ञासुओं को उमर खैयाम से तुलना करनी चाहिये। उमर खैयाम कच्चा निकलेगा। त्रिपुर सुन्दरी की उपासना में लोग खो गये। इस काल को संक्षेप में इस प्रकार लिखा जा सकता है : भग-पूजा, श्मशान-साधना, मंत्र, तंत्र, इत्यादि के साथ शिव बनने का प्रयत्न हुआ क्योंकि सब कुछ संसार में व्यर्थ था। माया के जाल से कैसे छूटा जाये ? नहाना व्यर्थ, ध्यान व्यर्थ, वेद, जाति, कर्म, परलोक सब व्यर्थ। बार-बार जन्म क्यों होता है ? मुक्ति तो शक्ति की साधना से मिलती है। शिव देता है जो शक्ति के साथ है। भूत, डामर, भैरवी सबकी पूजा हुई। स्त्री को एक ओर आनंद माना गया, दूसरी ओर उसे चिता समझा गया। वासना क्यों है ? क्योंकि चित्त नहीं मानता। चित्त क्यों नहीं मानता ? क्योंकि वीर्य उच्छृङ्खल हो उठता है। स्त्री की भग एक अग्नि है। उसमें उसे स्वाहा कर दो। जिस प्रकार अग्नि सब शुद्ध कर देती है, स्त्री भी सब शुद्ध कर देती है।

न व्याधिर्न च वै मृत्युर्न शत्रूणां भयं क्वचित्
पूर्णरूपः शिवः प्रोक्तः शिव एक न संशयः
को वा देहः कस्य देहः सुखं दुःखंन कस्य च
को जातः को मृतो देवि सर्व ब्रह्म स्वरूपकम् ।

तथा—

दुर्लभं सर्व तन्त्रेषु शाम्भंतत् प्रकीर्त्तितम्
कौलावधूतमार्गेषु तीर्थ यात्रां न च व्रजेत्
तीर्थाटनं च सन्यासं व्रतधारणमेव च
उपवासं मुण्डन च सर्वथा परिवर्जयेत् ।
यथा नारी पितुर्गोत्रात् पत्युर्गोत्रं समाश्रयेत् ।

और—

गतं शूद्रस्य शूद्रत्वं, गता विप्रस्य विप्रता ।
....जाति भेदो न विद्यते ।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि इस प्रवृत्ति और आसक्ति का मूल प्रायः संसार की आग से झुलसने पर सूझी हुई यातना है । जो है सो ब्रह्मस्वरूप है । क्यों अपने को अलग-अलग गिनते हो । किसी की कोई जाति नहीं है । कौल होने पर सब बदल जाता है जैसे स्त्री विवाह के बाद पिता का गोत्र छोड़कर पति का गोत्र ग्रहण कर लेती है । इस सब में एक भयानकता है, एक उलझा हुआ रहस्य है । किन्तु इसका वाह्यरूप नितांत सीधा है—

पंचमकार, रजस्वला स्त्री के रज और कुल स्त्री की पूजा करो । स्वयं वामा होकर पराशक्ति की पूजा करो ।

न दिशाकाल का नियम है, न तिथि का । निमय ही नहीं है । जिसके लिये-जन्म-मृत्यु का भेद नहीं उसके लिये क्या शुद्ध क्या अशुद्ध ?

क्वचित् शिष्टः क्वचिद्भ्रष्टः क्वचित् भूतपिशाचवत्
नानावेश धरा कौलः विचरन्ति महीतले

कर्दमे चन्दनेऽभिन्न मित्रे शत्रो तथा प्रिये
श्मशाने भवने देवि तथैव काञ्चने तृणे
न भेदो यस्य देवेशि स कौलः परिकीर्त्तितः ।

जिसे कोई भेद नहीं हो वही कौल है। वह कैसा भी रूप धारण कर सकता है। शिव कहते हैं—

मैथुनेन महायोगी मम तुल्यो न संशयः ।

मैथुन करने से महायोगी मेरे बराबर हो जाता है।

दूर से देखने पर यह भयानक जघन्य रूप भी पास से अद्वैत का रूप है। इसकी आसक्त ऐसी है जैसे मनुष्य शुद्ध होने के लिये चिता की लपटों में जा बैठा था। सब से विस्मय की बात है कि आगे चलकर इस सम्प्रदाय के लोग भा वेद सम्मत बनने का प्रयत्न करने लगे। शिव के अन्य भा अनेक सम्प्रदाय थे। उनमें से औरों की भाँति कालांतर में वीरशैव सम्प्रदाय भी लुप्त हो गया।

बसव नामक संत ने लिङ्गायतों की परम्परा चलाई जो अब भी है। यह सदा लिङ्ग धारण करते हैं। शिव के उपासक हैं। गुरुभक्ति अटूट है। छूआछूत के तथा ब्राह्मणों के घोर विरोधी हैं।

योगवासिष्ठ का एक विस्तृत क्षेत्र तैयार होने लगा था।

यह वह समय था जब शंकराचार्य्य जैसे ब्रह्म को ही सत्य तथा जगतमिथ्या माननेवाले संत के दर्शन होते हैं। बौद्धों का शून्यवाद प्रायः जैसा का तैसा ही समा गया। प्राचीन काल से जो वेदांत, उपनिषद और वेद के दार्शनिक तत्त्व बिखरे पड़े थे, शंकर ने उन्हें एकत्र कर दिया। उपनिषद काल में भी मुनि सगुण से निर्गुण पर पहुँच चुके थे। उनमें एक रहस्य की भावना थी। बौद्धों ने शून्य लिया था, रहस्य छोड़ दिया था। शंकर ने शून्य लिया और ब्रह्म भी लिया। शून्य को जो बौद्धों ने एक सत्ता मान लिया था। शंकर ने उसको आगे बढ़ाया। यहाँ हमने

शंकर के दार्शनिक पक्ष की कुछ झलक दी है। किन्तु शंकर का संत रूप निम्नलिखित से स्पष्ट हो जाता है :

मूढ नहीहि धनागमतृष्णां ,कुरुतनु बुद्धे मनसि वितृष्णाम्
यल्लभसे निज कर्मोपात्तं, वित्तं तेन विनोदय चित्तम्।
का तव कान्ता कस्ते पुत्रः संसारोऽयमतीव विचित्रः
कस्य त्वं वा कुत आयातस्तत्त्वं चिन्तय तदिदं भ्रात :।
मा कुरु धन जन यौवन गर्वं हरहि निमेसात् कालः सर्वम्
मायामपमिदमखिलं हित्वा ब्रह्मपदं प्रविशाशु विदित्वा।
नलिनीद लगत जलमतितरलं , तद्वज्जीवन मतिशमचपलम्
विद्धि व्याधि व्याल ग्रस्तं लोकं शोक हतञ्च समस्तम्
यावज्जननं तावन्मरणं तावज्जननि जठरे शयनम्
इति संसारे स्फुटतर दोषः कथमिह मानव तव संतोषः॥
दिन यामिन्यौ सायं प्रातः शिशिर वसन्तौ पुनरायातः।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुस्तदपि न मुञ्चत्याशावायुः॥

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं
दन्तविहीनम् जातं तुण्डम्
कर धृत कम्पित शोभित दण्डं
तदपि न मुञ्चत्याशाभण्डम्।

सुर मन्दिर तरू मूल निवासा : शया भूतलमजिनंवासः
सर्व परिग्रह भोग त्याग : कस्य सुखं न करोति विरागः
शत्रौ मित्रे पुत्रे बन्धौ, मा करु यत्नं विग्रह सन्धौ
भवसमचित्तः सर्वत्र त्वं वाञ्छस्यचिराद् यदि विष्णुत्वम्।
अष्ट कुलाचलसप्त समुद्रा ब्रह्म पुरंदर दिनकर रुद्राः
न त्वं नाहं नायं लोकस्तदपि किमर्थं क्रियते शोकः॥
त्वयि मयि चान्यत्रैको विष्णुर्व्यर्थं कुप्यसि मय्यसहिष्णुः।
सर्वं पश्यात्मन्यात्मानं सर्वत्रोत्सृज भेद ज्ञानं॥

वालस्तावत् क्रीड़ासक्तस्तरुणस्तावत् तरुणीरक्तः ।
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः परमे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः ॥
अर्थमनर्थं भावय नित्यं नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम्
पुत्रादपि धनभाजां भीतिः सर्वत्रेसा कथिता नीतिः ।
यावद्वित्तोपार्जन शक्तः
तावन्निजपरिवारो रक्तः
तदनु च जरया जर्ज्जर देहे
वार्त्तां कोऽपि न पृच्छति गेहे ।
कामं क्रोधं लोभं मोहं त्यक्त्वात्मानं पश्यतु कोऽहम्
आत्मज्ञान विहीना मूढास्ते पच्यन्ते नरक निगूढाः ।
तत्त्वं चिन्तय सततं चित्ते
परिहर चिन्तां नश्वर वित्ते
क्षणमिह सज्जनसंगतिरेका
भवति भवार्णवतरणे नौका ।

संसार की वेदना को देख विचलित होनेवाले किसी भी वचन के समान इस विवरण में एक हृदय को हिला देनेवाली भय की भावना है। शून्य की सत्ता ही ब्रह्म हुई, पर नीचे का भी सब शून्य बन गया। ब्रह्म के बिना कुछ नहीं। वह निर्गुण अतीत है। उसकी यह सब माया हो गई। सारांश कहा जा सकता है कि शंकर ने पुकार-पुकारकर कहा—धन के पीछे न दौड़ो। तृष्णा छोड़ो। जो अपने कर्म से धन मिले, बस उसी में संतोष कर लो। पिता कौन है, माता पुत्र कोई नहीं। यह संसार बड़ा विचित्र है। तू कौन है? कहाँ से आया है? धन जन यौवन का गर्व न कर। काल इस सबको एक निमेष में हर लेता है। इस समस्त संसार को मायामय समझो। ब्रह्मपद में ही ध्यान लगाओ। जिस प्रकार कमल दल पर जल अत्यंत तरल हिलता रहता है उसी प्रकार जीवन भी अत्यंत चपल है। कितनी बीमारियाँ किसी कठिनाइयाँ घेरे हुई हैं। सारा लोक

शोक से हत है। जैसे संध्या में अँधेरा झुक आने पर कमलों की भीर मुरझा जाती है, जैसे खड़ी खेती तुषारपात से मुरझा जाती है, उसी प्रकार समस्त संसार को दुःखों ने मार दिया है। जब तक जन्म लेना है, तभी तक मरना भी है। जन्म और मृत्यु के चक्र में घूमने के कारण ही तुझे बार-बार माता के गर्भ में सोना पड़ता है। क्या तू उस गन्दगी में सोने से नहीं घबराता? इतने बिखरे हुए दोषों में घिरे हुए मनुष्य तेरा संतोष कहाँ है?

समय भाग रहा है। दिन आता है रात आती है। सायं प्रातः इसी प्रकार चले जा रहे हैं। शिशिर के जाने पर फिर बसंत आता है। बसंत के बाद फिर शिशिर आता है। काल क्रीड़ा कर रहा है। आयु निकली जा रही है। फिर भी तू आशा को नहीं छोड़ता।

उपनिषद् और बुद्ध को जिस यातना ने व्याकुल कर दिया था वही शंकर को भी विह्वल कर देती है।

अङ्ग गल जाते हैं। सिर के बाल पक जाते हैं। दाँत टूट जाते हैं। हाथ में डंडा हिलता रहा है। फिर भी आशा का पात्र नहीं छोड़ता। काँपते हुए हाथ से उसे पकड़कर तृष्णा की भीख माँगता है।

अब शंकर ने इस भयावह संसार से मुक्ति का पथ ढूँढ़ा है। पहली बात कि सब छोड़ दो।

देवता का मंदिर हो। पेड़ के नीचे पड़े रहो। उसकी शीतल छाया महलों और कुटियों की दारुण वेदना से कहीं अच्छी है। जमीन पर सोओ। मृग-चर्म पहनो। सब प्रकार के बंधन और भोग त्याग दो।

इत्यलम्। शंकर की वेदना का स्वरूप हमने देखा। वही आधार भूत मानव का दुःख है। शरीर की यातना से मुक्ति का पथ ढूँढ़ा गया है।

जैसे संघ शक्ति का प्रारंभ बुद्ध ने किया था, उसी प्रकार शंकर ने भी मठ बनाकर अपने अनुयायियों को स्थापित किया।

कर्मों के कारण मनुष्य भटकता है। कर्म के बंधनों से छूटो। माया में आदमी फंस जाता है। माया को कोई भी समझ नहीं पाता! वह अनिर्वचनीया है। ब्रह्म सबसे परे है। वह कुछ नहीं करता।

नास्तिकवाद, क्षणिकवाद, सब ही तो शंकर ने दूसरे ढंग से स्वीकार कर लिया। ब्रह्म भी हुआ तो सबसे परे। शंकर का इसी लिये विरोध किया गया। परन्तु भेद था बीच के ईश्वर को मानने से बात बन गई। ब्राह्मण कर्मकांड घुस आया। शंकर ने इसे अनजाने ही सफल बनाया। आर्यत्व के मोह ने पांचरात्र का विरोध किया। लेकिन उपनिषद् के ब्रह्म का स्वरूप शैव अद्वैत से मिल गया था।

भारत के दार्शनिकों की विशेषता है कि उनमें केवल एक विचार-धारा नहीं मिलती। मिलती है तो कम। सब कुछ मिला देने का एक सामंजस्य सदैव होता है।

रामानुज का प्रादुर्भाव इस बात को समझा देगा। विशेषता है कि वेदसम्मत समस्त यह संप्रदाय-वल्लभाचार्य्य, निम्बार्काचार्य्य तथा अन्य सब दक्षिण से ही निकले और उत्तर भारत पर दबदबे से छा गये।

दार्शनिक पक्ष में विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत इत्यादि का स्वरूप मुखर हुआ किंतु बाह्य रूप में निम्नलिखित बातों का प्रभुत्व रहा।

दक्षिण में ईसाई धर्म और इस्लाम ने यह प्रभाव डाला कि मनुष्य मनुष्य से प्रेम करे तथा दूसरे, ईश्वर के सामने सब बराबर हैं। रामानुज ने इसे स्वीकार किया। वेदसंमत बने रहे, पर माया के स्थान पर लीला आई। अब परमात्मा से मनुष्य का सीधा संबंध हो गया। कर्मकाण्ड की हिंसा और भयानकता, वेदों की उन्नत गरिमा का भय, बौद्धों के क्षणिकवाद का चक्र, उपनिषद् का रहस्यवाद, जैनों का तप और शरीर को कष्ट देने की प्रवृत्ति, शंकर का प्रकांड पांडित्य और नीरसता, योग की उच्च दार्शनिकता, भागवत संप्रदाय परकीया प्रेम की सरसता में

पवित्रता का अभाव, सब रामानुज ने दूर कर दिये। पांचरात्र फिर स्वीकार कर लिया गया।

राम की सगुण मूर्त्ति फिर आ गई। प्राचीन विष्णु की पांचरात्र उपासनावाली मूर्त्तियों के सामने अब वेद सम्मतों को सिर झुकाने में कोई बंधन नहीं रहे।

ताम्रवर्णी तीर पर भागवत बनने लगा, पढ़ा जाने लगा। उसके भक्ति रस को फिर नारद की प्राचीन परम्परा ने जाग्रत किया। और कृष्ण पुरुष हो गया। जीव इतना तन्मय हो चला कि धीरे-धीरे सखी संप्रदाय के पुरुष-संत स्त्री बनकर रहने लगे। भागवत ने सबके लिये द्वार खोल दिया।

आर्य्येतर शैव अद्वैत ने दार्शनिकता के गगन को आच्छादित कर लिया, और वैष्णव भक्ति ने सबको एक दूसरे से मिला दिया।

मनुष्य ब्राह्मणवाद में एक सरसता खोजने लगा क्योंकि संसार दुःखी था। अपने को पूरी तरह से न्यौछावर कर देने की परम्परा चल पड़ी—

अहं भक्तिरिति ख्याता इमौ मे तनयौ मतौ।
ज्ञान वैराग्यनामानौ कालयोगेन जर्जरौ।

मैं भक्ति हूँ। ज्ञान वैराग्य मेरे दोनों पुत्र जर्जर हैं।

यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना।
तत्फलं लभते सम्यक्कलौ केशव कीर्त्तनात्॥
एकाकारं कलिं दृष्ट्वा सारवत्सारनीरसम्।
विष्णुरातः स्थापितवान्कलिजानां सुखाय च॥
कुकर्माचकरणात्सारः सर्वतो निर्गतोऽधुना।
पदार्थाः संस्थिता भूमौ बीज हीनास्तुपा यथा॥
विप्रैर्भागवती वार्ता गेहे गेहे जने जने।
कारिता कणलोभेन कथासारस्ततो गतः॥

अत्युग्रभूरिकर्माणो नास्तिका रौरवा जनाः।
तेऽपि तिष्ठंति तीर्थेषु तीर्थसारस्ततो गतः॥
काम क्रोधमहालोभ तृष्णाव्याकुल चेतसः।
तेऽपि तिष्ठंति तपसि तपस्सारस्ततोगतः॥
मनसश्चाजयाल्लोभाद्धं भात्पाखंड संश्रयात्।
शास्त्रानभ्यसनाच्चैव दान योग फलं गतम्॥
पंडितास्तु कलत्रेण रमंते महिषा इव।
पुत्रेस्यात्पादने दक्षा अदक्षा मुक्तिसाधने॥

जो फल तपस्या, योग, समाधि, यज्ञ, दान से नहीं होता, वह कलि में केवल हरिकीर्तन से मिलता है। कलियुग में इसीसे भक्ति का स्थापन हुआ। आगे लोलुप, कामी, क्रोधी, नास्तिक, पाखंडी तथा मुक्ति से दूर ब्राह्मणों की घोर निंदा की गई है।

यह भक्ति सतयुग से द्वापर तक आनंद से ज्ञान वैराग्य के साथ रही। पर अब क्षय को प्राप्त हुई। जप, तप, व्रत, नियम. दान, पुण्य, वेद, ज्ञान, कोई भी ईश्वर को तेरे समान नहीं जीत सकता।

इस प्रकार सब जंजालों को छोड़ने का आदेश दिया गया। शूद्र भी महान् भक्त माने गये। दक्षिण के आलवारों में शूद्र भी थे। उन्हें वेद का अधिकार न था, पर भक्ति का था। जब पेयालवार का तेज देख ब्राह्मण वेद पढ़ना भूल गये, तब उन्होंने चावल तोड़कर दिखाया और ब्राह्मण फिर पढ़ने लगे—नीवार शूकां.. ......

६

सहजयान

वज्रयान का व्यापक प्रभाव बहुत महत्वपूर्ण है। इसके सिद्धों ने समाज को दूसरे ही रूप में लिया। उन्होंने स्त्री के प्रति अपनी ममता को

ही सर्वश्रेष्ठ माना। बौद्धमत अपने पतन के अंतिम समय में बिल्कुल अद्भुत् हो चुका था। उसमें बुद्ध की पूजा थी अवश्य, किन्तु यह केवल मूर्त्तिपूजा थी। इनके दार्शनिक तथ्यों को छोड़कर देखा जाये तो इनका रागात्मक पक्ष अपने व्यक्ति सुख में एक ओर ब्राह्मणसमाज के खंडन में लगा था तो दूसरी ओर स्त्री से संभोग करने में।

इन सिद्धों के साथ अनेक चमत्कारों की किंवदंतियाँ जुड़ी हुई हैं। उनमें कितना सत्य है यह आज नहीं जाना जा सकता किंतु उनका प्रभाव समाज पर गहरा था। समाज पक्ष में हम देखते हैं कि सिद्ध एकांत जीवन व्यतीत करते थे। कुछ सिद्धों का जीवन बौद्ध विहारों में व्यतीत होता था, कुछ नालंद आदि विश्वविद्यालयों में थे। अधिकांश शक्ति पूजा करते थे। वे रहस्य भरी ऐसी बातें कह देते थे जिनका अर्थ निकाल लेना जन-समाज के लिये एक कठिन काम था। आत्म संवेदना से जिस वस्तु को जान लिया जाये वही वे कहते थे।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि इन वज्रयानी अथवा परवर्त्ती रूप में सहजयानी सिद्धों के तीन मुख्य रूप थे : स्त्री संभोग से होनेवाले स्खलन, आनंद की तृप्ति में महानता की स्वीकृति और योग की साधनाओं से भीतर की प्रवृत्तियों को रहस्यमय समझने की चेष्टा निरंतर बढ़ रही थी। ब्राह्मणों से निरंतर बढ़ते विरोध से केवल खंडनात्मक स्वरूप को पकड़ते जाना। तीसरे चमत्कार और सिद्धियों के पीछे सांसारिकता को चौंधिया देने का प्रयत्न करना।

व्यक्ति के ये तीनों पक्ष समाज पर अपना प्रभाव डालने में समर्थ हुए। जन-समाज धीरे-धीरे व्यभिचार की ओर बढ़ चला। ब्राह्मण जाति व्यवस्था को दृढ़तर करता था। वज्रयानी सिद्ध उसी समय सर्वोत्तम पुण्य मानता था जब वह सबसे नीची जाति की कन्या को देवी मान सके, और उसमें अपनी शक्ति समझकर, उससे संभोग करके महासुख प्राप्त कर सके। यह क्या कम सिद्धता थी? ध्यानपूर्वक देखने का विषय है कि

ब्राह्मण पर इसका क्या प्रभाव पड़ता होगा ? सभी जातियों से छूआछूत माननेवाला ब्राह्मण यहाँ निरुत्तर हो गया।

सरहपा ने कहा: ब्रह्मणाहि म जाणन्त हि भेउ।
एवँइ पढ़िअउ ए चउवेउ।

ब्राह्मण भेद नहीं जानता। वह तो वैसे ही चारों वेद पढ़ लेता है।

ब्राह्मण के यहाँ तो—
रण्डी मुण्डी अण्ण विवेसें,
दिक्खिज्जइ दक्खिण उद्देसें।

रण्डी-मुण्डी रहती है। उसके यहाँ आचार व्यवहार कुछ नहीं है। और सरहपा स्वयं डोम्बी और रजकी को ढूँढ़ा करते हैं। उनके लिये संभोग स्वतन्त्र है स्त्री विवाहित हो तो भली। अविवाहित हो तो कोई हानि नहीं। पर वे तो ढोल बजाते नहीं। प्रवृत्ति को सुख मानते हैं। निवृत्ति को तो बुरा समझते हैं।

सरहपा को 'क्षपणकी मोक्ष' बिल्कुल नहीं भाता। तत्व को तो कोई समझता नहीं। साधना से फिर क्या लाभ ? कोई व्याख्यान दे रहा है, कोई चिंतित दिखाई देता है। इस सबसे क्या लाभ ? मंत्रों, देवताओं में भी उन्हें विश्वास नहीं है।

सरहपा को हम वास्तविक वज्रयानी नहीं कह सकते। वज्रयान तो धारणी मंत्रों का ढेर लिये था उसके तो पच्चीसों देवता थे। वह उन सबकी उपासना करता था। जादू-टोने में उसका गहरा विश्वास था। उन सबके बिना उसका काम भी पूरा नहीं होता था। आज हम उनके उन मंत्रों का अर्थ नहीं समझते जो उनकी उपासना में प्रयुक्त होते थे, जैसे— इलितिलिमित्ते, दुम्बे दुम्मालीये ....का अर्थ मात्र ध्वन्यात्मक दिखाई देता है। परंतु उनका अपने विचारों में पूर्ण विश्वास था।

क्यों संसार में लोग दुःख पाते हैं ? कोई रोग और पुकार रह

है, कोई ब्राह्मण धर्म की ओर, किंतु सरहपा को भौतिक आधार ही प्रिय है:

खाअन्त पिअन्ते सुहहिं रमन्ते।

खाओ, पियो सुख से रमण करो। इससे अधिक इस ससार में कुछ भी नहीं है। हे मनुष्य! सब अवस्थाओं का अंततोगत्वा यही परिणाम निकलता है। सुख चाहिये। सुख भी साधारण नहीं। महासुख। तो वह मिले कैसे? सब प्रकार के प्रयत्न किये जा चुके हैं। जिसमें मनुष्य जाता है उसी में अपनी शृंखल पाता है। फिर सबका ही क्यों न छोड़ दिया जाये? यह संसार तो दुःखी है ही। दुःखी है क्योंकि इसमें सब विकृत है। जो जैसा होना चाहिये था, वैसा नहीं है। सघर्ष है, दुरित दुःख दैन्य क्लेश है। सरहपा को कहीं आदि अंत और मध्य नहीं दिखता। न यह ससार ही है, न कहीं निर्वाण ही है। सबसे परममहासुख एक है—खाना, पीना, स्त्री से रमण करना। सहज ही रहो। जो सहज नहीं है, वही तो भीतर बाहर के क्लेश पाता है। ब्राह्मण ही विकारों का मूल है। सरह का उपदेश बड़ा गंभीर है, उसे क्या सहज ही समझा जा सकता है? क्योंकि वहाँ तो मन और पवन का संचरण नहीं है, रवि और शशि का प्रवेश भी नहीं होता।

ऐसे रहो जैसे जल में जल मिल जाये। ठीक है। एक जल यह है जो सब दीख रहा है। दूसरा क्या है? दूसरा है महाशून्य। सहजयान की यह अपनी एक विशेषता है कि यहाँ शून्य का भी शून्यरूप नहीं है। यह अवर्णन है, वर्णनातीत है।

जब्बे मण अत्थमण जाइ, तणु तुट्टइ बंधण
तब्बे समरस सहजे, वज्जइ सुद्दण बम्हण

जब मन अस्तमन हो जाये, तन के बंधन टूट जायें, तब ही समरस और सहज कहना चाहिये। उस समय शूद्र और ब्राह्मण नहीं कहना चाहिये।

इससे प्रगट होता है कि सरहपा ने भेदहीन अवस्था को इतना कठिन बना दिया है कि सहज ही जन-समाज उसे प्राप्त नहीं कर सकता और तीर्थों में सबसे बड़ा तीर्थ यह काया है। इस काया को ही गंगा-यमुना और सब कुछ जानना चाहिये।

छड्डहु वेणिम ण करहु सो सँण लगाहु वढ़ ! आलें।
काय तित्थ खत्र जाइ, पुच्छह कुल ईणाओ,
वम्ह—विट्ठु तेलोअ, सअल जाहि णिलीणओ।

द्वैतभाव छोड़ दो। शोषण नहीं करो।

ब्रह्मा विष्णु महेश जहाँ लय हो जायें वहाँ बुद्धि विनष्ट होती है, मन मरता है, अभिमान टूट जाता है,—

स माआमअ परम फलु तहिं कि वज्झहि झाण।

वह मायामय परमफल है।

सरह की प्रवृत्ति का अर्थ उसमें खो जाना नहीं है। डूबे पर भीगे नहीं। यही उनकी प्रवृत्ति की निवृत्ति उनको सिद्ध कहलाती है, कि करे पर नहीं करे। यह एक भयानक विरोधाभास है।

विसअ रमन्त ण विसअँ विलिप्पइ।
ऊअर हरइ ण पाणी छिप्पइ।

विषय में रमकर भी लिप्त न हो। अर्थात् जो करे उसका अनुभव ही न करे। मनुष्य को अपने काम से ऊपर उठना चाहिये। देह में बुद्ध रहता है। यह कोई मूर्ख नहीं जानता।

जीवन्नह जो णउ जरइ, सो अजरामर होइ।

जो जीवित में नहीं जले, वही अजरामर है। मजबूरी है कि जीवित हैं। देह धरे के दण्ड भुगतने पड़ रहे हैं। इसलिये चरमावस्था तो वह है जब—

केवल सुएण चरेइ।

केवल शून्य में विचरण करे। जहाँ चित्त का विस्फुरण होता है,

वहाँ स्वरूप नहीं है। अन्यतरंग क्या, अन्य जज्ञ क्या? ऐसा मिल जाये जैसे—

भव—सम :ख—सम सरुअ।
भवसम आकाशसम स्वरूप।

चलो। मनुष्य अब आकाश के समान होने चला। इतनी बड़ी धरती और उसको यहाँ कुछ भी अच्छा नहीं लगता? वह आकाश के समान होना चाहता है। सारे रूप आकाश स्वरूप दिखाई दिया करें। ख सम ही मन भी बना लो। मन को भी अमन कर दो। न 'वह' आते दीखता है न जाते हुए, उसका होना भी कोई नहीं जानता। वह निस्तरंग परमेश्वर है। निष्कलंक है, उसे धारण करे।

एकटक आकाश हो जाओ। हाँ और ना दोनों मत रहो। इस चरमाभाव का दूसरा रूप कितना अद्भुत है। यह शून्य मिलता है। पर जब मनुष्य विकृति से अलग सहज होकर रहता है। सहज एक संयम है। इस संयम का रूप है वामासाधन। अर्थात् स्त्री से संभोग करना, खाना, पीना, मस्त रहना। और कुछ नहीं।

यह एक ऐसा जाल है जिसमें व्यक्ति और समाज एक दारुण बंधन में पड़े छटपटा रहे हैं। किधर जायें? क्या करें?

जीवित हैं तो खाना-पीना ठीक है। शरीर में शक्ति है तो स्त्री सुख ही अच्छा है, पर वास्तव में यह सब है कुछ नहीं। मनुष्य को असल में क्या मिलता है?

भूसुकपा इसीलिए कहते हैं कि—

आइएँ अनुआनएँ जग रे भन्तिएँ सो पडिहाइ,
रज्जु सप्प देखि जो चमकिउ साँचे जिमलोअ खाइड
अकट जोइआ रे मा कर हाथ लोएहा।
आटम महावें जइज बुज्झसि तूटइ वासना तोरा।

यह रज्जु और सर्प की भ्रांति भी भूसुक की अपनी नहीं है। अनेक सन्तों ने यही कहा है। वास्तविकता क्या है?

सहज का महातरु फूलता है। पानी में पानी डालने से कब किसी को भेद दिखाई देता है? इसी प्रकार मन रत्न समरस होकर गगनोपम हो जाता है। जिसका अपना नहीं, उसका पराया क्या है? आदि-अंत, जन्म-मरण संसार कुछ नहीं है।

कएहपा की निर्वाणसाधना ध्यान देने योग्य है। वे कहते हैं:

णिच्चल णिव्विअप्प णिव्विआर। उअअत्थमण रहिअ सुसार
अइसो सो णिव्वाण भणिज्जइ। जहिं मण माणस किम्पिण किज्जइ

कुछ करना नहीं पड़े। यदि पवन-गमन-द्वार है तो ताला डाल दो (प्राणायाम करो)। यदि घोर अंधकार है तो मन को दीपक बना दो। तरुणी के निरंतर स्नेह के बिना और किसी का बोध करके भी तुझे क्या लाभ होगा? घरनी में मन लगा।

इसके अतिरिक्त शरीर के भीतर की नाड़ी और श्वास क्रियाएँ भी साथ-साथ चलती हैं जिन्हें अलग नहीं किया जा सकता। चेतना और वेदना से दूर सिद्ध पूरी नींद सोता है। सब से मुक्ति पाकर सुख से सोता है। और स्वप्न में उसे त्रिभुवन शून्य दिखाई देता है। आवागमन से सब कुछ छूट गया है। सहज चित्त में पूर्ण शून्य है। स्कंध वियोग नहीं है, तभी वह अब विपरण नहीं है। कएहपा यह कहे बिना कैसे रह जाये कि अनुदिन तीनों लोकों में समाकर घूम रहा है। मूढ़ लोग तो कुछ भी नहीं देख पाते। उन्हें दूध में घी है यह भी नहीं सूझता।

महीपा ने तभी कहा है कि पाप-पुण्य के द्वैत तोड़ दो। गगन से टकटकी लगा लो। चित्त निर्वाण प्राप्त करेगा। जब मैं इसमें डूबने लगा तब सब कुछ भूल गया। मुझे कुछ भी दिखाई नहीं दिया।

भादेपा ने बढ़कर कहा है कि यदि चित्त नहीं है तो पाप और

पुण्य भी नहीं है। चित्त के राग को मैं आहार बना गया हूँ! किंतु तिलोपा ने इसे स्पष्ट कर दिया है—

जिम विस भक्खइ, विसहि पलुत्ता
तिम भव भुञ्जइ भवहि ण जुत्ता।
खण आणंद भेउ जो जाणइ।
सो इह जम्महि जोइ भणिज्जइ।
हुँउ सुण्ण जगु सुण्ण तिहुअण सुण्ण
णिम्मल सहाजें ण पाप ण पुण्ण।
जहि इच्छइ तहि जाउमण, एत्थु ण किज्जइ भन्ति।

अर्थात् मन में आये वही करो। किसी भी प्रकार भोग छोड़ना अच्छा नहीं है। मैं शून्य हूँ, जग शून्य है, त्रिभुवन शून्य है। निर्मल सहज में न पाप है न पुण्यन। तीर्थ तपोवन, ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, देवता, बोधिसत्त्व किसी की भी सेवा मत करो। देह पवित्र है, उसे कोई पाप नहीं लगता, देवताओं की पूजा करने से मोक्ष नहीं मिला करता।

इन सहजयानी सिद्धों का विरोधाभास देखते ही प्रगट होता है। महासुख के बिना काम नहीं चलता। सुख क्या है अभावात्मकता उसकी चरमावस्था है। उसका आधार नितांत भौतिक है।

यह सिद्ध अधिकांश निम्न जातियों के लोग थे। इनके विस्तृत जीवन के विषय में कोई ज्ञान नहीं है। अभी इस विषय पर प्रकाश डालने के साधन प्राप्त नहीं हुए हैं। चौरासी सिद्धों में प्रायः सभी के विषय में यही विशेषता मानी गई है। इनमें से कुछ में भेद भी है, जो आगे प्रगट हो जायगा।

निदान ब्राह्मण धर्म से तो सभी प्रायः अलग थे। इन्होंने समाज में एक आग लगा दी।

यह विचारधारा अपने वास्तविक स्वरूप में ऐसे बिखरी कि शाक्तों,

करता हुआ, उसे अपने पतन का कारण समझता हुआ भी नंगा पूजने लगा। इतिहास के अन्वेषकों को यह देखकर आँखें नहीं मूँदनी चाहिये कि यह भी भारत की पवित्र धरती पर होनेवाला एक व्यापार था जिसने शताब्दियों तक अपना अखंड प्रभाव रखा। काँटे से काँटा निकाला जा रहा था।

यह भी भारतीय संत परम्परा थी। इसने भी समाज पर अपना प्रभाव डाला। मनुष्य की विलासी शक्ति उच्छृङ्खल हो उठी और जहाँ एक ओर वह सहज की खोज में चल पड़ा दूसरी ओर स्त्री के हाड़ चाम ने उसे ग्रस लिया। भूसुकपा की यह वाणी—

करुणामेह निरंतर फारिआ। भावाभाव द्वंदल दालिआ।
उइउ गअण माझ अदभूआ। पेख रे भूसुकु! सहज सरूआ
जासु सुणन्ते तुट्टइइंदआल। णिहुए णिज मठा देइउ उल्लाल
विसअ विसुज्झे मइँ वुज्झिउ आणंदे।
गअणहं जिम उजोली चन्दे।
ए तिलोए एत विसारा। जोइ भूसुकु फडइ अँधआरा।

जन-समाज की नहीं हो सकी। न करुणा के मेघ निरंतर झरे, न भावाभाव का द्वन्द्व मिटा। अद्भुत दीखा, न सहज स्वरूप। न इन्द्रजाल टूटे, न उल्लास हुआ। न आनंद मिला, न आकाश में चाँद निकला। लेकिन भूसुकपाद के लिये अवश्य अँधियारा फट गया।

१०

नाथयोगी

नाथ संप्रदाय के योगियों का भी समाज पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। कह सकते हैं कि उत्तर भारत में इनका ५०० वर्षों तक असर रहा। इनके विषय में भी बहुत कम लोगों को जानकारी है। योगी को समझना

तनिक कठिन है। कितना इनके मत में प्राचीन था, कितना इधर-उधर से आकर मिल गया था, यह निर्विवाद नहीं कहा जा सकता। गोरखनाथ से पहले भी नाथ संप्रदाय का कोई रूप था। गोरखनाथ महान् आचार्य माने गये हैं क्योंकि उन्होंने अपने मत को एक स्थिर रूप दिया। यहाँ हम उनके हठयोग की क्रियाओं पर अधिक नहीं कहेंगे।

इन योगियों में भारतीय संत परम्परा की एक कड़ी मिलती है। परवर्त्ती संतों के विषय में जो अनेक किंवदंतियाँ हैं अथवा उनकी रचनाएँ हैं उनका स्रोत यहीं मिलता है, जिसको हम सीधे सिद्ध काव्य से उतरते हुए पाते हैं। योगी भी चमत्कारों से भरे पड़े हैं।

योगियों में नवनाथ प्रसिद्ध हैं। किंतु गोरखनाथ ही इन सबमें महान् और प्रधान थे।

सहज का व्यापार इनमें भी स्वीकृत था। यह भी गगनोपम होने का प्रयत्न करते थे। इनके सहज को समझने के लिये कुछ सीमा तक इनकी अद्भुत् वेशभूषा पर भी ध्यान रखना चाहिये। भैरव, दत्तात्रेय, कालभैरव अघोर, कापालिक, तथा कालामुख और सँपेरे, आदि काले, नीले, अद्भुत् ढंग के लोग दिखाई देते हैं, वे सब इसी संप्रदाय से निकट या दूर से आकर संबद्ध हैं। इनमें मुसलमान और हिंदू दोनों होते हैं। भारत में आर्यों के आने के साथ ही जो आभ्यंतर विरोध उठ खड़ा हुआ था, उसमें कोई एक मत या विश्वास ही हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। अनेक संप्रदाय धीरे-धीरे एक में आकर कम से कम, बाह्य स्वरूप में, मिलने का प्रयत्न कर रहे थे।

गोरख को पिंड में ही ब्रह्माण्ड दीखने लगा। उन्होंने यौगिक क्रियाओं का स्तर परिष्कृत किया। आपने विरक्त होकर कहा है : अभ्यंतर की माया त्यागना आवश्यक है।

वीर्य के ऊपर विशेष महत्त्व दिया गया है। उसे किसी भी अवस्था

में नष्ट नहीं करना चाहिये। गौतमबुद्ध की भाँति आपने भी मध्यम मार्ग पर चलना ही श्रेयस्कर बताया है।

पांये मी मरिये अणपरयें भी मरिये।
गोरख कहै पूता संजमि ही तरिये।
मधि निरंतर कीजै वास।
निहचल मनुवां थिर होइ सांस।

वज्रयान के अभावात्मक शून्य को सहजयान में एक धनात्मक स्वरूप प्राप्त हो गया था। नाथ संप्रदाय में हमें उस स्थान पर अलख और निरंजन तत्त्व मिलता है।

उदय न अस्त राति न दिन
सरवेसचराचर भाव न भिन्न
सोई निरंजन डाल न मूल
सर्वव्यापिक सुषम न अस्थूल
अलेष.लेपंक्त पदेष देपंत अरस परस ते दरस जाणी
सुनि गरजंत वाजंत नाद अलेप लेपंत ते निज प्रवाणी

और साथ ही साथ आकाश के समान हो जाना भी एक बहुत बड़ी इच्छा बनी ही रहती है।

अवधू सुंने आवै सुंने जाइ।
सुंने चीया रहे समाइ।
सहज सुंनि तन मन थिर रहै,
ऐसा विचार मछिंद्र कहै।

और यही नहीं। शून्य के विषय में यहाँ मिलता है कि—

सुंनि जा माइ सुंनि ज बाप
सुंनि निरंजन आपे आप।

सृष्टि का उद्‌गम इनके लिये भी रहस्यमय था। संक्षेप में कह सकते

है कि रहस्य की इस अपरूप भावना के कारण ही सिद्धों की साधना और उलट बाँसियाँ सीधी-सीधी इनमें भी उतर आईं। किंतु शिव शक्ति का मिलन जो पहले स्त्री-पुरुष संभोग के महासुख में निहित था, अब गोरखनाथ जैसे अद्भुत् संयमी ने शरीर के भीतर ही उसे मान लिया। कुण्डलिनी ही शक्ति अथवा स्त्री निर्धारित की गई।

अवधू रवि अमावस चंद सु पड़िवा
अरध का महारस ऊरध ले चढ़िवा
गगन अस्थाने मन उनमन रहै,
ऐसा विचार मछिंद्र कहै।
परतर पवना रहै निरंतरि
महारस भीजै काया अभिअंतरि।
गोरख कहै अम्हे चंचल ग्रहिया
सिव-सक्ती ले निज घर रहिया।
योगियों के सब रूपों को ही गोरखनाथ ने ठीक नहीं समझा है

दक्षिण जोगी रंगा चंगा, पूरबी जोगीवादी
पछमी जोगी बाला भोला, सिध जोगी उतराधी।
अवधू पूरब दिसि व्याधि का रोग,
पछिम दिसि मिर्तु का सोग
दछिण दिस माया का भोग
उत्तर दिसि सिध का जोग।

जो निरंतर मन माया को काट डालता है वही वैरागी मायारहित निरंजन ब्रह्म जैसा समझा जाना चाहिये। गोरख योगी के समस्त जीवन और चिंतन से ज्ञात होता है कि एक अवस्था पर पहुँचकर मनुष्य हठयोग जैसे दुष्कर कर्म को साधकर पार करने पर जिसे पाता है—वह [illegible] है, निराकार, निरंजन, अलेख अरूप है—

बसती न सुन्यं, सुन्यं न बसती, अगम अगोचर ऐसा,
गगन सिषर नहिं बालक बोलै ताका नाँव धरहुगे कैसा ?

और इसे ही वह सहज कहता है। इस सहज में और सहजमनियों के सहज में जो भेद है वह यहाँ स्पष्ट हो जाता है। यहाँ स्खलन का आनंद महासुख नहीं है, वीर्य्य को ऊर्ध्वरेतस कर देने में है। न वेद, न किताबें, कोई भी ब्रह्म के रहस्य को खोज नहीं पाये। बल्कि सत्य को इन्होंने ढक दिया है।

वेदे न सास्मे कतेबे न कुरांणे
पुस्तके न बंच्या जाई
ते पद जांनां बिरला जोगी
और दुनी सब धंधै लाई।

इसीलिये हँसो, खेलो। क्रोध और काम से दूर रहो। चित्त को दृढ़ रखो—

हसिबा खेलिबा रहिबा रंग।
काम, क्रोध न करिबा संग।
हसिबा पेलिबा गाइबा गीत,
दिढ करि राषि आपनां चीत।

आत्मा का बल सबसे बड़ा बल है। उसके बिना कुछ नहीं होता। मुहम्मद के हाथ में लोहा नहीं था। उसमें तो बस शब्द था—

सबदैं मारी सबदैं जिलाई ऐसा महंमद पीरं
तीके भरमि न भूलौ काजी सो बल नहीं सरीरं।

तुम्हारे शरीर में वह शब्दबल कहाँ है ? यहाँ योगी का तलवार को छोटा समझना कितना स्पष्ट हो जाता है। इसीलिये यह दूसरे प्रकार की विजय-चाहनेवाले लोग संसार के भौतिक को निस्सार कहते थे। सहज यानी कम से कम स्त्री को तो पकड़े था, नाथों ने तो उसे भी छोड़

दिया। 'स्वकर्मवित्ती फल' के लिये कहा है कि जब जोगी ने साधना की तब वह ब्रह्मरंध्र में जा पहुँचा। वहाँ उसे अनाहत नाद सुनाई देने लगा। वह सार का भी सार, गहर गंभीर है। अब मानिक मिल गया। यह ब्रह्म को जान लेना ही वास्तव में मानिक है। किंतु वह मिला किसे? केवल योगी को। बाकी सब वाद विवाद ही करते रह गये। किसी को ज्ञात ही नहीं हुआ। बात यह है कि अनुभूति सबको तो होती नहीं।

> कोई वादी, कोई विवादी, जोगी कौं वाद न करनां।
> अठसठि तीरथ समंदि समावैं यूं जोगी कौं गुरमुषि जरनां।

और तभी एक अजीब बात सुनाई देती है :

> उतरंति हिंदू, जरणां जोगी,
> अकलि पीर मुसलमांनीं,
> ते राह चीन्हों हो काजीमुलां
> ब्रह्मा बिस्नु महादेव मांनीं।

और असली योगी का वर्णन इस प्रकार किया जाता है कि वह:

> अहनिसि मन लै उनमन रहै,
> गम की छाँडि अगम की कहै।

अर्थात् संसार को छोड़कर दूसरे जगत की बात करता है। वह आशा ही छोड़ देता है। वो बिल्कुल निराश ही रहता है, उसका न निराशा भी आस ही आकर रहेगा।

है। पाँचों इन्द्रियाँ बँधी पड़ी हैं। ब्रह्म की अनुभूति की आग में वह अपने भौतिक अस्तित्व को होम दे रहा है। तभी महादेव भी उसके चरणों की वंदना करते हैं। जो धन और यौवन की आशा नहीं करता, कामिनी के पास चित्त नहीं रखता, नाद और बिंदु जिसके शरीर में जीर्ण होते रहते हैं, उसकी तो पार्वती भी सेवा करती है।

अब विद्वानों से एक प्रश्न है। पंथ बिना चलना, अग्नि बिना जलना, वायु से प्यास का बुझना, यह भी कभी देखा है? आत्मतत्त्व के इस अनुभव के विषय में कहा गया है कि वह—

गगने न गोपंत तेजे न सोषंत पवने न पेलंत बाई
महीभारे न भाजंत उदके न डूबंत कहौ तौ को पतिआई।

नाड़ी ज्ञान अत्यंत आवश्यक है। चक्रों में से कुण्डलिनी ऊपर उठती है। ऊपर सहस्रार में जाकर मिल जाती है—नाड़ी दो मुख्य हैं—एक सूर्य प्रभावित—एक चंद्र प्रभावित। बीच में सुषुम्ना है। ऊपर उठकर ब्रह्मरंध्र में समा जाना ही इनका काम है—

चंद सूर दोऊ गगन बिलूधा,
भईला घोर अंधारं।
पंच बाइक जब न्यंद्रा पौढ्या,
प्रगट्या पौलि पगारं।

जब सिंहद्वार खुल गये तब फिर किसका सोच करने की आवश्यकता रह गई? और योगी को ध्यान रखना है कि कोई इस रहस्य को जान न जाये—

... .रूड़ा राखौ, नगरी चोर मलाया।

वह जाप जपो जिससे अगम मिलता है—

अगम जाप जपीला गोरष, चीन्हत बिरला कोई।

इला प्युंगुला जोगण भेंटी,
सुषमन मिल्या घर बासा।

इड़ा पिंगला अर्थात् चंद्र सूर्य दोनों नाड़ियों को मूँद लेने पर सुषुम्णा का मार्ग खुल जाता है। यही योगी का मुद्रा धारण है। पृथ्वी को सबसे पहले भस्म कर दिया। अर्थात् सांसारिकता छोड़ दी। उसे भस्म करके जल में मिला दिया। नाद, बिंदु, शृंगी, अनाहतनाद को थामकर अलक्ष्य गुरु के चेले हो गये।

तीनसै साठि थेगली कंथी
इकवीस सहस छ सै धागं
बहतरि नाड़ी सुई नवासी
बावन वीर सीया लागं
इली सोधि घटि प्यंगुली पूरी,
सुषमनी चढ़ असमानं
मछिंद्र प्रसादैं जती गोरष बोल्या
निरंजन सिधि नै थानं।

अर्थात् ३५० हड्डियाँ जो शरीर के भीतर हैं वे ही थेगलियाँ हैं, जिनसे शरीर रूपी कंथा का निर्माण हुआ है। २१६०० साँसें जो मनुष्य दिन भर में लेता है, ये ही इस प्रकार अनेक थेगलियों को कंथा से जोड़कर सी देनेवाले ताँगे हैं। ७' नाड़ियाँ वह अनेक सूइयाँ हैं, और बावन वीर चेतन, इसको सीनेवाला दर्जी है। इड़ा और पिंगला को मिला देने से, जब सुषुम्णा में चढ़ जाते हैं तब निरजन सिद्धि मिल जाती है।

यह है हमारे इस युग के संतों और योगियों का वास्तविक रूप। गुरु के बिना इनका कोई काम नहीं चलता। गुरु ही सब कुछ बताता है। उसके बिना मनुष्य जन्मजन्मांतर तक व्यर्थ ही भटकता रहता है।

यद्यपि गोरखनाथ ने रसायनिक सिद्धि आदि का विरोध किया है किंतु उनके बाद योगियों में यह बात प्रचलित रही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि संत परंपरा का रूप अपने साथ एक बड़ी विरासत लेकर भी यहाँ अपना स्वरूप पलट गया है। इन वाह्याचारों को छोड़कर देखा जाये तो स्पष्ट है कि गोरखनाथ जीवदया के पक्षपाती थे। ऊँच-नीच का भेद उन्हें अप्रिय था। सबसे ऊपर वह उसे मानते थे जो सच्चा योगी हो। तभी कहा है कि न आकाश है, न पृथ्वी न चंद्र, न सूर्य न दिन, न रात, न सूक्ष्म, न स्थूल। पेड़, पत्ते, फल, शाखा, मूल, कुछ नहीं है। ज्ञान ध्यान, योग, मुक्ति, पाप, पुण्य मोक्ष, अनुत्पन्न, अविनश्वर, अजर, अमर, कुछ भी नहीं है वह क्या है? यह कोई नहीं जानता।

११

निर्गुण पंथी

सन्तों की महत्ता तब बढ़ती हुई दिखाई देती है जब भारत में मुसलमानों का प्रभुत्व छा जाता है। प्रायः प्रत्येक धर्मगुरु का स्वसंवेद्य जैसे लगभग भिन्न-भिन्न रहा है, संतों में भी हमें यही दिखाई देता है, किंतु एक निर्गुण का आधार सभी फूलों में चलनेवाले डोरे के समान व्याप्त है। यह संत प्रायः सभी नीच जातियों के व्यक्ति हैं और इनके अनुयायी भी नीच जातियों के ही लोग रहे हैं। प्रत्येक संत ने जो कुछ कहा कालांतर में उसके अनुयायियों ने उसे भुला दिया। किन्तु इसके कारण हमारे आलोच्यग्रंथ के अंत में देना ठीक रहेगा। सन्तों का निर्गुण सीधा नाथ सम्प्रदाय से उतरा किन्तु उनकी अनुभूति में कुछ भेद हो गया। उस समय की परिस्थिति भी बदल गई। कबीर का नाम सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। उनमें शंकर का ज्ञानवाद, रामानंद की भक्ति, सहजियों की रस-सम भावना, इस्लाम की समानता की घोषणा नाथ

सम्प्रदाय का निरंजन तथा सूफ़ियों में मिल-जुल गया हठयोग सभी पाया जाता है। इन सबके सम्मिश्रण से कबीर ने एक नये रूप को सामने रखा। व्यक्ति सुख और मोक्ष के प्रार्थी कबीर ने समाज के विषय में सच्चे मराकल रूप ने अपना मत प्रतिपादन किया है। बीजक मूल में कहा गया है -

अस जोलहा काहु मर्म न जाना। जिन्ह जग आनि पसारिनि ताना,
धरती आकाशदोउ गाड़ खंदाया।
चद सूर्य दोउ नरी बनाया।
सहस्र तार ले पूरनि पूरी।
अजहूँ बिने कठिन है दूरी।
कहहि कबीर कर्म ने जोरी।
सूत कुसूत बिने भल कोरी।

किन्तु कबीर में यह कर्म का विश्वास अन्य भारतीय कर्मवाद से कुछ अलग का नहीं है। यही भाग्यवाद में परिणत हो जाता है। इस भाग्यवाद के साथ ही कबीर में मिलनेवाला उनका यह खंडनात्मक स्वरूप है जिसने अनेक निम्न जातियों को एकाएक चौंका दिया —

औ भूले षटदर्शन भाई। पाखंड भेष रहा लपटाई।
जीव शीव का आहि न सौना। चारिउ बेद चतुर्गुण मौना।
जैनि धर्म का मर्म न जाना। पाती तोरि देव घर आना।
ज्ञान अमर पद बाहिरें नियरे ते है दूरि
जानें ताके निकट है, रहा सकल घट पूरि।

हिंसा से उन्हें अत्यन्त घृणा है —

पढ़े वेद औ करे बड़ाई। संशय गाँठि अजहुँ नहिं जाई।
पढ़ि के शास्त्र जीव वध करई। मूंडि काटि अगमन के धरई।

कहहि कबीर ई पाखंड, बहुतक जीव सताव
अनुभव भाव न दरसै, जियत न आपु रखाव ।

गधे को चन्दन से लादो, वह उसके लिये केवल बोझ है। वह सुगंध को क्या जाने ? मनुष्य सीधा जल नहीं पीता । वह तो खोद के पीने की हौस रखता है । कबीर को यह विचार ठीक नहीं लगता । पंडितो पढ़-पढ़कर इतनी चतुराई दिखाते हो। मुझे तनिक अपनी मुक्ति का ही पथ दिखा दो । चारों वेदों में से किसी ने भी ब्रह्म को जाना है ? दान पुण्यों का तो बहुत बखान किया है, पर अपनी मौत तक का उन्हें ज्ञान नहीं था ।

पण्डित भूले पढ़ि गुनि वेदा ।
आप अपनपौ जानु न भेदा ।
संझा तर्पण और षट कर्मा ।
ई बहु रूप करें अस धर्मा ।
गायत्री युग चारि पढ़ाई,
पूछहु जाइ मुक्ति किन पाई ।
और के दिये लेत हो छींचा,
तुमसो कहहु कौन है नीचा ।
ई गुण गर्भ करो अधिकाई,
अधिके गर्भ न होय भलाई ।

कुल मर्यादा खोय के, खोजिन पद निर्वान
अंकुर बीज नसाय के, नर भये विदेही थान ।

मनुष्य अपने बाह्याचरणों में बद्ध होकर इतना अंधा क्यों हो गया है ? संतोष रूपी सुख को छोड़कर वह परस्पर लड़ रहा है ।

जिन्ह कलमा कलिमाहिं पढ़ाया ।
कुदरत खोजि तिनहु नहिं पाया ।

कर्मत कर्म करे करतूता। वेद कितेब भये सब रीता।
कर्मत सो जग भौ अवतरिया। कर्मत सो निमाज को धरिया।
कर्म से सुन्नति और जनेऊ। हिन्दू तुरक न जाने भेऊ।
पानी पवन सँजोय के, रचिया यह उत्पात।
शून्यहि सुरति समोइ के कासो कहिए जात।

यह कर्म सांसारिक जन्मकुल के विरुद्ध खुला विद्रोह था, जो सब विश्वासों को ठोकर दे रहा था तभी प्रश्न है—

आदम आदि सुधि नहीं पाई।
मामा हवा कहाँ ते आई।
तब नहिं होते तुरक औ' हिन्दू
माय के रुधिर, पिता के बिन्दू।
तब नहिं होते गाय कसाई,
तब बिसमिल्ला किन फुरमाई।
तब नहिं होते कुल औ जाती,
दोजख बिहिस्त कौन उतपाती।
मनमसले की सुधि नहिं जाना,
मति भुलान दुइ दीन बखाना।

यहाँ कबीर ने जिस एकेश्वरवाद की स्थापना की है वह शंकर, रामानुज, और रामानन्द की परंपरा की चीज़ नहीं है। इसका स्रोत हमें पीछे चलने पर केवल नाथ संप्रदाय में मिलता है, और किसी सम्प्रदाय में इस प्रकार का विवरण नहीं है। यह सच है कि परमात्मा एक है, परन्तु कबीर का महत्त्व इस एक को भीतर ही पहचान लेने में है। बाहर तो वह ढूँढ़ते हैं जो व्यर्थ समय नष्ट करते हैं। उन्हें क्या कुछ मिल सकता है?

शक्ति जिसका प्रसाधन नाथ युग में बंद हो चुका था कबीर के यहाँ आकर वह माया हो गई और इस प्रकार शंकर के निम्नस्तरों के ईश्वर को छलना बनकर मँडराने लगी। ध्यान देने की बात है कि

रूप पाने के कारण स्त्री भी चपेट में आ गई। इस माया का कबीर ने अद्भुत् वर्णन किया है :

नारी एक पुरुष दुई जाया। बूझो पंडित ज्ञानी।
पाहन फोरि गंग इक निकरी चहुँदिशि पानी पानी।
तेहि पानी दुइ पवत बूड़े दरिया लहर समानी।
उड़ि माखी तरवर को लागी बोले एकै बानी,
वहि माखी को माखा नाहीं. गर्भ रहा बिनु पानी,
नारी सकल पुरुष वे खाये, ताते रहै अकेला।
कहहिं कबीर जो अबकी बूझै सोई गुरु हम चेला।

जिसने नाम का स्मरण किया वही जीत सका। हाथ में सुमिरनी लेकर चलनेवालों के पेट में कटारी होती है। वैसे पढ़ने को वह भगवद्-गीता पढ़ते हैं। अपना हृदय शुद्ध किये बिना ही हे पागल' कहते सुनते हुए तेरा समय व्यतीत हो रहा है। अजीब-अजीब देवताओं की तू पूजा करता है और हरि से भय नहीं करता। तेरा यौवन और धन यहीं रह जायेगा। जायेगा तब तुझे अकेले ही जाना पड़ेगा। मृत्यु ने फंदा डाल दिया है। काल तुझे आकर ऐसे खा जायेगा जैसे हिरन को चीता।

तू सो क्यों रहा है उठ। मृत्यु तेरी बाँह पकड़कर हिला रही है। मस्तिष्क में दाह है, मन में अपार तृष्णा है। तू कागज की तरह घुल जायेगा। धर्मराज जब लेखा माँगेगा तब हे मूर्ख! तू क्या दिखायेगा? सुख और सम्पत्ति स्वप्न की बात हैं. यह तो ऐसे है जैसे तिनके पर ओस। बालू का भीत ढह जायेगी।

हे मन धीरज क्यों नहीं धरता। शुभ अशुभ, जो भी पुरबिले कर्म हैं, न रत्ती घटते हैं. न रत्ती बढ़ते हैं। जो होनहार है वह तो होके रहेगी। उसकी तू चिंता क्यों करता है? पशु, पक्षी, कृमि, कीट, सबकी एक वही मात्र चिंता करनेवाला है। माता-पिता, सुख-सम्पत्ति, दारा, इनकी ज्वाला में तू क्यों जल रहा है।

अरे तू चला जायेगा। राज करनेवाला राजा और उसकी रूपवती रानी सब चले जायेंगे। राज, समाज, सभासद, वह सब अभिमानी भी चले जायेंगे। वेद पढ़ते हुए पंडित, कथा सुनते हुए ध्यानी, योग करनेवाले योगी, ज्ञान रटनेवाले ज्ञानी सब चले जायँगे। चले जायेंगे चन्द्र, सूर्य, पवन, पानी, मन, बुद्धि, सकल प्राणी, जड़ जंगम, अमीर गरीब, सब सब। कोई नहीं बचेगा।

बचेगा वही जो हरि का जन है। जिसकी बुद्धि ठहरी हुई है।

जिसने भी इस धरती पर जन्म लिया है, वही दुःखी है। आज तक तन धरनेवाले को हमने सुखी नहीं देखा। राजा, प्रजा, रंक, धनी, अधमाधम, मुखिया, कम ज्यादा करके सब दुखी हैं चाहे वे गृही हों या त्यागी हों। कुटुम्बी, वैरागी, जोगी, जंगम का भी यही हाल है। तपसी का तो दूना दुःख है। सब घटों में आशा और तृष्णा व्याप रही है। कोई महल भी इससे सूना नहीं है। सच कहता हूँ तो कोई मानता नहीं, झूँठ मुझसे कहा नहीं जाता। असल में ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी दुखी हैं जिन्होंने यह राह चलाई है। अवधूत, राजा, तथा दरिद्र अभावग्रस्त, सब दुःखी हैं।

कबीर कहता है सुखी वह है जिसने मन जीत लिया है।

उपासना का बाह्यरूप, काल का भय, पूर्वजन्म के फल, सांसारिक सम्बन्ध सामाजिक दुःख के प्रति कबीर का यही मत है। इनमें कहीं कबीर ने कोई परिवर्त्तन नहीं किया है। हिन्दू मुस्लिम का मजाक उड़ाया। किन्तु वह भी इसी अंत के लिये, जो व्यक्ति का उत्थान है। आगे कहते हैं—

हे भाई, अभी क्या है। आगे समझ आयेगी। यहाँ तो पेट भर-भरकर खा रहा है। बहुत तरीकों से तूने अपना मांस बढ़ा लिया है। तुम पर दया कहाँ से होगी। तुम्हें स्वयं कभी दया नहीं आई।

यहाँ तो दूसरों का धन लूट लेते हो, उनके गलों में फाँसी के से फंदे डाल रखे हैं।

कबीर कहता है, दुनिया में दुई है। जो सच कहता है वही मारा जाता है। इसीलिये कबीर ने आगे चलकर जीवन के प्रति यह रुख ले लिया है, जिसे सम्भवतः संसार में बहुत कम लोग स्वीकार करेंगे कि जीने की आशा छोड़ दो। असल में दुःख तो यह मनुष्य का जीवन ही है। अरे, सारा झगड़ा इसी का है, यही न हो तो फिर क्या कष्ट है?

मत फिर मनुआं भूला भूला, जग में कैसा नाता रे
मातु कहै यह पुत्र हमारा बहन कहै बीर मेरा।
भाई कहै यह भुजा हमारी नारि कहै नर मेरा।
पेट पकड़ कर माता रोवै बाँह पकड़ कर भाई।
लिपट झिपट कर तिरिया रोवै हंसा जाय उड़ाई।
जब लग जीवै माता रोवै बहन रोवे दस मासा
तेरह दिन तक तिरिया रोवै फेर करै घर बासा

कबीर को यह बार बार घर बसाना ठीक नहीं मालूम देता। उजड़ गया फिर बसने लगे। यह तो खेल हो गया। किस लिये? सिर्फ़ इसी दिन के लिये :—

चार गजी चादर मँगवाई चढ़ा काठ की घोड़ी।
चारों कोने आग लगाई फूंक दई जैसे होरी।
हाड़ जरैं जैसे लाह कड़ी की केस जरैं जैसे घासा।
सोना ऐसी काया जर गई कोई न आया पासा।
नेह सनेह ढूँढ़ नहिं पाई ढूँढ़ि फिरो चहुँ पासा।
कहत कबीर सुनी भाई साधो, तजो जीने की आसा।

हे मनुष्य अपना जन्म सुधार। धोखे में क्यों बिगड़ रहा है?

तीरथ व्रत और जप तप संयम
या करणी मत भूलो हो,
जम फन्दे नें जुग जुग परिहौ
फिर फिर यूनि न भूलो हो।
ना कछु न्हाये ना कछु धोये,
ना कछु घंट बजाये हो
ना कछु नेती ना कछु धोती,
ना कछु नाचे गाये हो
सिंगी सेली भभूत और बटुआ
साईं स्वाँग से न्यारा हो
कहैं कबीर मुक्ति जो चाहो
मानों वचन हमारा हो।

क्योंकि आत्मा यहाँ की नहीं है। यह धरती तो एक बंदीगृह है। यहाँ तो भुगतने आना पड़ता है। जो ऐसा नहीं मानता वही भ्रम में पड़ा है? है कोई यहाँ सुखी? अतएव—

हँसा सुधि कर अपने देसा,
यहाँ आय तेरी सुध बुध बिसरी आन फँसो परदेसा।
अबहूँ चेत हेत कर घर से सतगुरु से उपदेसा
कौन देस से आयो हंसा, कभी न कियो अन्देसा
आप परो तू मोह फन्द में काल गह्यो सिर केसा
का कहि आयो कहा करत है, कहाँ भूले परदेसा
कहैं कबीर वहाँ चल हंसा, जन्म न होत हमेसा।

वहाँ बार-बार जन्म नहीं होता। और जो तू पूजा उपासना से मुक्ति चाहता है तो सुन कि—

देवता पितर भवानी भुइयाँ, यह मारग चौरासी चलन की
चौरासी का अर्थ चौरासी लाख योनियों में जन्म लेना है। वास्तव में यह

चौरासी—चोरासी सिद्धों का भी मार्ग हो सकता है। उन्होंने तो प्रवृत्ति में ही निवृत्ति खोजने का प्रयत्न किया है। हाँ पाखंड-खंडन करते थे। तब स्त्री विरोध तो यहाँ हुआ। इसी देह को देख न? देह के भीतर क्या है?

यह घट धुंध अँधियारा रे सन्तो।
यह घट भीतर बाग बगीचे
याही में सिरजन हारा रे सन्तो।
या घट भीतर चन्द्र और सूरज याही में नौलख तारा रे
या घट भीतर कासी द्वारिका याही में ठाकुर द्वारा रे।

ज्ञान मार्ग के इस योद्धा में गोरख की नीरसता नहीं है। एक रागात्मक समन्वय भी है।

यह रस रीति मेरे प्रभु की दिव्य दृष्टि बल जैसे री
विषयी ज्ञानी भगत उपासक प्राप्त सबन को तैसा री
कदली खम्भ पपीहा सीपी स्वाति बूँद जल जैसे री
भगवत कछू विषमता नाहीं. भूमि भाग फल तैसी री।

'उसके' लिये तो यह भी क्या है, वह भी क्या है? सब बराबर है।

और कबीर पुकार कर कहता है, तू जो अनुमान कर रहा है 'वह' तो 'यह' वास्तव में नहीं है।

सैना, धर्मदास, रैदास, नानक दादू, मलूकदास, हरिचन्द, धरन दास. यारी साहब, बिहार और मारवाड़ के दोनों दरिया साहब, बुल्ला साहब, केशवदास (प्रसिद्ध नहीं), पलटू, एक नहीं अनेक संत हो गये। स्त्रियाँ भी हुईं। एक पक्ष इधर ही झुका रहा। दूसरा निर्गुण रूप मीरा का हुआ जिसमें भक्ति और भी अधिक बढ़ गई। सगुण से निर्गुण का मीरा में तादात्म्य हो गया। मीरा स्त्री थी। उसकी वेदना में एक कोमलता बनी रही। मीरा का पूरा जीवन स्त्री के स्वातंत्र्य के लिये संघर्ष

है। जैसे सन्तों का ब्राह्मणों से उपासना की समानता के लिये संघर्ष हुआ, वही मीरा में भी स्त्रियों की उपासना और भक्ति के लिये समानता के लिये लड़ाई हुई।

संतन ढिग बैठ बैठ लोक लाज खोई
छाँड़ दई कुल की रीत क्या करिहैं कोई
आई मैं भगति काज जगत देख मोहीं
दासी मीरा गिरधर प्रभु तारो अब मोहीं

तथा

राजकुल की लाज गमाई साधा के संग मैं भटकी
नित उठ हरिजी के मन्दिर जाइयां नाच्यां दे दे चुटकी
भाग खुलो म्हारो साध संगत सूँ साँवरिया की बटकी
जेठ बहू की कांण न मानूं घूँघट पड़ गई पटकी

सहजोबाई की वेदना का सांसारिक रूप दूसरा था—

मया कुटुम्बी जब सुख कैसा,
सहजो बन्ध पड़े कोई जैसा
सुता पुत्र उपजै मर जावैं
सोच सोच तन मन दुख पावैं।

रूप मिटता जा रहा है :—

सेत रोम सब हो गये, सूख गई सब देह
सहजो वह सुख ना रहा, उड़ने लागी खेह
सहजो इन्द्री सब थकीं तन पौरुष भयो छीन
आसा तृस्ना नहिं घटी सहज बचन भये दीन

और अत्यन्त खेद से वे कहती हैं—

आय जगत में क्या किया,
तन पाला कै पेट,

मृगतृष्णा जीवन जग रचना देखो हृदय विचारि
कहैं नानक भज सत्य नाम नित जाते होत उद्धारि।

यह प्रश्न अधिक संतों ने नहीं किया। मरे बाद जब 'राम' शरीर से निकल गया तब फिर उसके लिये इतना शोक क्यों ? नानक कहते हैं सोच कर देखो, यह जगत् की रचना एक गहरी मृगतृष्णा है। माया तो किसी के साथ जाती नहीं। फिर उसका अभिमान करने से क्या लाभ ? तू वास्तव में अकेला है—

काको मातु पिता सुत बनिता को काहू को भाई
धन धरती और सम्पति सिगरी जो मानो अपनाई।
तन छूटे कछु संग न जाई कहा ता.हि लिपटाई।

कबीर के बाद नानक ही ने हिन्दू मुस्लिम ऐक्य पर बहुत ज़ोर दिया है। कबीर ने जहाँ इनके भेदों से घृणा तक को है, नानक ने शोक अधिक किया है। एक ही श्वास में अल्लाह और गोविन्द का नाम लेने में लोग क्यों हिचकते हैं ? केवल बेईमान अलग अलग दावा करके लड़ते हैं। हैं दोनों एक ही खुदा के बन्दे।

कबीर में यह ध्वनि इतनी तीव्र नहीं थी जितनी नाथपंथियों में कि स्पष्ट कहा जाता था कि योगी न हिन्दू है न मुसलमान। नानक ने स्पष्ट कहा है कि हिन्दू और मुसलमानों में शैतान बस गया है। वह तो एक है। उसे किसी भी नाम से पुकार लो। न नानक हिन्दू है न मुसलमान।

दया, संयम, सदाचार, आत्मोन्नति, पाखंड खंडन, सत्य, यही नानक के मुख्य उपदेश हैं। यद्यपि नानक पर सूफ़ी कवियों का, अन्यों की तुलना में अधिक प्रभाव पड़ा है, परंतु वे अपना हिन्दू रूप छोड़ नहीं सके हैं। हिन्दू और मुसलमान का भेद मिटाने के लिये कबीर की ही भाँति नानक ने एक और ऊँची सत्ता की ओर इंगित किया। ठीक वहाँ जहाँ राम और मुहम्मद द्वार पर खड़े रहते हैं। जाति-बंधन का उन्होंने

घोर विरोध किया। इसी कारण नानक का पंथ आगे चलकर अन्य संप्रदायों से कुछ अलग हो गया। नानक के साथ भी अनेक मुसलमान शिष्य होकर साथ रहते थे। किन्तु नानक में एक विशेषता है। भक्ति की हिलोरें बार-बार उनमें उठती हैं। कबीर में यह विरह जहाँ ज्ञानपक्ष से संतुलन करता है, वहाँ नानक आगम, अलक्ष्य, नौखंड, दस भुवन, अनहद, सहज, सब कुछ कहने पर भी भक्ति को ही अधिक मानते हैं। हृदय की इस रागात्मक वृत्ति का प्राबल्य भारतीय इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण चरण है। क्यों कोई उसे अन्य मार्गों से खोज नहीं पाया—

हरि की गति नहिं कोई जाने
जोगी जती तपी पच हारे और बहु लोग सियाने
अपनी माया आप पसारे आपै देखन हारा
नाना रूप धरे बहुरंगी सबसे रहत नियारा
अमित अपार अलक्ष्य निरंजन जिन सब जग भर्माया
सकल भर्म तजि नानक मैं तो चरण माँहि चित लाया।

वैसे तो मन का दबना असभव है। नानक यहाँ जोगी की साधना और कबीर के अहंकार को मिटा कर कहते हैं—

जब नानक हरि भये दयाला
तब सब बिधि बनि आई।

इस अवस्था पर भक्त को और किसी चेष्टा की भी आवश्यकता नहीं रही। निश्चय ही—

पीतम जानि लेहु मन माँही॥

यहाँ मन में बसने वाला पीतम कहला रहा है। इसी को आगे मलूकदास ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है:—

जौन कोई भूखा गोपाल की मुहब्बत का
तौन दुर्वेसन का पैंडा निराला है।

रहते महज़ूज वे तो साहेब की सूरत पर
दुनिया को तर्क मार दीन को सम्हाला है।
किसी से न करे सवाल उनका कुछ और ख्याल
फिरते अलमस्त वजूद भी बिसारा है।
कहते मलूक उन्हें सूझता है बेचुगून
किसी की गरज नहीं अन्दर उजियारा है।

यदि तेरे हृदय में प्रेम है तो उसका ढिंढोरा न पीट। तेरे भीतर की भावनाओं को क्या अंतर्यामी नहीं जान सकेगा ? स्मरण, प्रार्थना करते समय किसी को मालूम न हो जाये। अपना प्रेम छिपाकर रख। मेरा सुमिरन तो स्वयं हरि करता है। मैं विश्राम पा गया हूँ।

इस प्रकार हमने यह स्पष्ट देखा कि प्रायः वज्रयान के मूर्त्ति-मंत्रों के विरोधी सहजयानी संत स्त्री में लगे रहे। उनसे नाथ संम्प्रदाय ने हटकर विषय काम छोड़ा, पर ज्ञान नीरस रहा। योग किया। कबीर में योग कम हुआ, स्त्री और दूर गई, पर भक्ति घुसी। परवर्त्ती संतों में भक्ति बढ़ने लगी। निर्गुण धीरे-धीरे सगुण से समझौता करने लगा। इन सबके पीछे एक सामाजिकता है जिसको समझना आवश्यक है। आगे इस पर विस्तार से विवेचन करना आवश्यक है। किंतु इस समय हम एक दूसरे क्षेत्र में आते हैं जिसके प्रभाव से एकदम समस्त भारत भूमि ढँक जाती है। चैतन्य, दक्षिण के नामदेव, आदि की वाणियों पर अब एक नई पीढ़ी के संतों की वाणी सुनाई देती है। निर्गुण अब पीछे हटने लगता है।

१२

सगुणोपासक

भक्ति के सगुण रूप का प्रादुर्भाव एक आकस्मिक घटना नहीं है बहुत प्राचीन काल से जो नारद के भक्तिसूत्र तथा शैव संप्रदायों की

तन्मयता थी वही अभीरों के परकीया प्रेम से मिली। उसी में सहजिया परवर्त्ती सन्तों का प्रेम मिल गया। ध्यान रहे भक्ति काव्य में सूफ़ी काव्य का प्रभाव नहीं है। शंकर ने जो दार्शनिक वातावरण उपस्थित किया वह नीरस था। महान् के सामने अपने को उसमें लय कर देने की तृष्णा फूट निकली। इसका अभ्युदय यदि प्रखर रूप से देखा जाये तो दक्षिण से हुआ। दक्षिण के शैव भक्त तथा वैष्णव आलवारों की परंपरा ने जब उत्तर भारत में प्रभाव डाला तब हमारी सगुण भक्ति की संत-परंपरा चल पड़ी। इसमें अनेक विशेषताएं थीं। पहली और मुख्य है कि यह समस्त संत ब्राह्मणवाद से स्पष्ट ही प्रभावित थे। दूसरे दक्षिण में ईसाई धर्म ने जो प्रेम की भावना फैलाई उसने समाज में निम्न जातियों के प्रति एक सहानुभूति पैदा कर दी। यह कवि प्राचीनता के मोह को फिर से जाग्रत करने लगे। कृष्ण और राम के प्रति सुन्दर गीतों का प्रादुर्भाव हुआ।

सूर ने अपने आपको कृष्ण की बाल तथा शृंगार लीला में खो दिया। इस पक्ष के साथ-साथ सूर का एक व्यक्तिपक्ष भी था, जिसकी अन्य संतों से तुलना करना आवश्यक है।

यौवन बीत रहा है।

> यह संसार फूल सेमर को सुन्दर देख लुभायो
> चाखन लागो रुई उड़ानी हाथ कछू नहिं आयो।

इस दुख की वेदना से आर्त्त होकर वे कहते हैं—

> दिन हरि सुमिरन बिन खोये।
> तेल लगाय कियो तन मर्दन बस्तर मल-मल धोये।
> तिलक लगाय चले बने स्वामी विषयन के संग जोये।
> काल बली से सब जग काँपे ब्रह्मादिक मुनि रोये।
> सूर अधम की कौन गति है उदर [illegible] सोये।

वही उदर भरकर सोना सूर को भी पसन्द नहीं है। सब दिन विषयों में लगे बीत रहे हैं। तीनों पन ऐसे ही बीत गये। सिर के बाल सफेद हो गये। साँस आने में अब अटकती है। गंगा का जल छोड़कर कुएँ का जल पीते हैं। हरि को छोड़कर प्रेत की पूजा करते हैं। प्रमाद करके गोविंद को भुला दिया है। राम नाम लेने में तो कुछ खर्च भी नहीं होता। अटके-अटके ही जीवन बीत गया। राज-काज सुतपिता की डोरियों ने कस लिया। विवेक छोड़कर न जाने कहाँ कहाँ भटकता फिरा। माया की जो कठिन गाँठ पड़ गई वह अब झटके से नहीं तोड़ी जा सकती। न हरि का भजन है, न संतों का समागम है, बीच में ही लटका रह गया है। बहुत कला दिखाने के बाद भी नट का लोभ नहीं छूटता। दूध के मटके में पानी क्या शोभा देता है?

जन्म सिरानो ऐसे ऐसे,
कै कहूँ रंक कहूँ ऐश्वरता नट बाजीगर जैसे।

बस सदैव स्वप्न ही देखा करता है। अवसर निकला जा रहा है।

ईश्वर के सामने जब सूर की करुण पुकार उठती है तब उसमें ईसाई, इस्लाम, सभी धर्मों का साम्य दिखाई देता है कि हे ईश्वर! तेरे सामने, जहाँ धरती का कोई प्रश्न नहीं, वहाँ तो कोई बन्धन भेद नहीं है—

जात गोत्र कुल नाम गिनत नहिं रंक होय वा रानो
ब्रह्मादिक शिव कौन जाति प्रभु मैं अजान नहिं जानो।
बहुता जहाँ तहाँ प्रभु ना हैं सो देवता क्यों मानो
सूरदास प्रभु की महिमा है साखी वेद पुरानो।

जहाँ बहुत से हैं, वहाँ प्रभु नहीं हैं। तब देवताओं को क्यों माना जाये! सूर का एक ईश्वर है। उसी की महिमा है। और सूरदास जब यह बात कहते हैं तब से पूर्ववर्ती संतों की भाँति वेद पुराण को ठुकराते नहीं, उनको अपना साक्षी बनाते हैं।

यहाँ किसी रहस्य का जंजाल नहीं है। सीधी-सीधी अपने ईश्वर से बातचीत है।

बड़ी है राम नाम की ओट,
शरण गहे प्रभु काढ़ देत नहीं करत कृपा को टोट
बैठत सभा सबहिं हरि जू की कौन बड़ो को छोट
सूरदास पारस के परसे मिटत लोह के खोट।

भगवान् की सभा में कोई बड़ा नहीं, कोई छोटा नहीं। वहाँ भेद हो ही नहीं सकता।

यह समस्त एकता और समन्वय किनका है? वे जो वेदमार्ग से चलनेवाले हैं। इसमें बाहर वालों का सवाल ही नहीं उठता। वे चाहे जिस मार्ग से चलें। परिधि के बाहर हैं। उन पर विवाद करने से क्या वे अपने साथ आ जायेंगे? वे असल में भटके हुए लोग हैं। किन्तु यही भेद तब नही रहता जब सूर अपने ईश्वर से अपने बारे में बातें करने लगते हैं। सूर ने अपने को नम्रता में जमीन से लगा दिया है।

प्रभु हौं सब पतितन को राजा
परनिंदा मुख पूरि रह्यो जग यहि निसान नित बाजा
तृसना देस, रु सुभट मनोरथ इन्द्रिय खड्ग हमारे
मंत्री काम कुमत दैवे को, क्रोध रहत प्रतिहारे
गज अहँकार चढ्यो दिगविजयी लोभछत्र धरि सीस
फौज असत-संगति की मेरी, ऐसो हौं मैं ईस
मोह मदै बंदी गुन गावत मागध दोष अपार
सूर पाप को गढ़ दृढ़ कीनो मुहकम लाइ किवार।

तथा—

प्रभु मोरे अवगुन चित न धरो
समदर्शी प्रभु नाम तिहारो चाहो तो पार करो

एक नदिया इक नार कहावत मैलो नीर भरो
जब दोनों मिल एक बरन भये सुरसरि नाम परो।
एक लोहा पूजा में राखत एक घर बधिक परो
गुन औगुन पारस नहिं जानै कंचन करत खरो।
यह माया भ्रम जाल निवारो सूर स्याम सिगरो
अबकी बेर प्रभु मोको तारो नहिं प्रण जात टरो।

मैं तेजी से डूब रहा हूँ। तुम मुझे क्यों नहीं उबार लेते? हे दयानिधि, दीनबन्धु स्वामी, जन के दुःखों का निवारण करो। ममता की घटा छा रही है। मोह की बूंदें गिर रही हैं। लोभ की सरिता अपार जलराशि लिये हरहरा रही है। इसमें डूबते हुए मुझे कहीं भी थाह नहीं मिलती। तुम ही एक आधार हो। तृष्णा रूपी बिजली क्षण-क्षण चमक रही है प्रभु! मुझे अपना समझकर तार दो। इस संसार का भयानक वज्र-गर्जन। मुझे डरा रहा है। अत्यंत दुख दे रहा है। यह संसार रूपी जल एक भँवर है। मैं उसमें फंस गया हूँ। तुम्हारा विरद है; हे नाथ! तुम पतितों के सगी हो। हे श्याम! मुझे सम्हालो।

मीरा को सगुण से एतराज नहीं। परिणाम वही निर्गुण है। किन्तु सूर निगमागमसम्मत व्यक्ति हैं। उन्होंने निर्गुण का ठोस विरोध किया है। यहीं सूर का कविता का समाज-पक्ष है। कहीं यह लड़ाई भौतिक आधारों का मज़ाक उड़ा कर होती है। निर्गुण से जहाँ तुलसी ने सिर झुका कर सामंजस्य करके फिर भी अपने सगुण को उठाया है, सूर ने उसकी महानता को ही नहीं माना—

निर्गुन कौन देस को बासी?
मधुकर, हँसि समुझाय, सौंह दै बूझति, साँच, न हाँसी,
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि को दासी?

कैसो बरन भेस है कैसो, केहि रस को अभिलासी ?
पावैगो पुनि कियो आपनो जो रे, कहैगो गाँसी।

और कहीं वे आध्यात्मिक दृष्टिकोण से उत्तर देते हैं। किन्तु यह सूर साधारणतया वही सूर नहीं रहते। 'चल चकई' के साथ रहस्यमय कल्पना-लोक में उड़ने का प्रयत्न उन्होंने कहीं-कहीं ही किया है। वास्तव में मनुष्य की रागात्मकता ही उन्हें प्रिय थी। एक दार्शनिकता अपनी है। बाक़ी सबका खंडन है। वह एक तो निगमागम से दूर है। देखने को वह बाह्य मात्र ही दिखाई देती है। भीतर की पूछते हैं तो उत्तर नहीं मिलता, तभी—

जद्यपि हरि हम तजि अनाथ करि
तदपि रहति चरननि रस रासी
अपनी सीतलताहि न छाँडत
जद्यपि है ससि राहु-गरासी।

कहीं वे मनुष्य की कोमल वृत्तियों को जगाना चाहते हैं—

ऊधो ! मन नाहीं दस बीस,
एक हुतो सो गयो स्याम सग, को आराधै ईस ?
भईं अति सिथिल सबै माधव बिनु जथा देह बिनु सीस
स्वासा अटकि रहे आसालगि जीवहिं कोटि बरीस
तुम तौ सखा स्याम सुन्दर के सकल जोग के ईस
सूरजदास रसिक की बतियाँ पुरवौ मन जगदीस।

था—

रहु रे मधुकर मधु मतवारे
कहा करौं निरगुन लैके हौं, जीवहिं कान्ह हमारे
लोटत नीच पराग पक में, पचत न आपु सम्हारे
सुन्दर स्याम कमल दल लोचन जसुमति नदंदुलारे
सूर स्याम को सर्वसु अर्प्यो अब कापै हम लेहिं उधारे।

विशेष ध्यान देने योग्य कृष्ण के साकार रूप में यह स्वरूप प्रखर है—

चरन गहे अंगुठा मुख मेलत
उछलत सिंधु धराधर काँप्यो, कमठ पीठि अकुलाइ,
सेस सहफन डोलन लागे हरि पीवत जब पाइ।
बढ़्यो वृच्छवर सुर अकुलाने गगन भयो उत्पात
महाप्रलय के मेघ उठे करि जहाँ तहाँ आघात।

यह कृष्ण का सर्वव्यापी परमेश्वर रूप है। विराट रूप की झलक स्पष्ट है। फिर यह तो बालक में ही उस भाव का समावेश है।

गोविंद पद भज मन बच क्रम करि
रुचि-रुचि सहज समाधि साधि सठ दीनबन्धु करुनामय उर धरि।
मिथ्यावाद विवाद छाँड़ि सठ विषय लोभ मद मोहै परिहरि
चरन प्रताप आनि उर अंतर और सकल सुख या सुख तरहरि
वेदन कह्यो स्मृति इति भाष्यो पावन पतित नाम है निजु हरि।

और इस प्रकार निर्गुण का विरोध ब्राह्मणवाद के विरोधियों का विरोध है।

सूर और तुलसी ने उपासना के जो महानतम रूप खड़े कर दिये हैं वे किस लिये? सूर का सगुण, तुलसी की मर्यादा—एक ही बात के दो रूप थे। सूर ने उसे भावना और अध्यात्म के क्षेत्र में लेकर विरोधियों को काटा। तुलसी ने उसी प्रेम को स्वीकार तो किया, पर उसके सामाजिक रूप को भी परिष्कृत किया और प्राचीन आर्य ब्राह्मण-परंपराओं को इन दोनों ने फिर से जीवित कर दिया।

अनेक भक्तों ने अपनी मुक्ति की प्रार्थना की है। किंतु वह इतना व्यापक प्रभाव नहीं डाल सकी है जितना इन दोनों का क्षेत्र रहा है। यह दोनों सन्त महान् थे, और ऐसे उद्भट कि इन दोनों ने चट्टानों की भाँति खड़े होकर निर्गुण को झुका दिया।

इससे पहले कि हम इनके सामाजिक पक्ष पर विस्तार से विवेचन करें यह आवश्यक है कि इनके कार्य का वास्तविक क्षेत्र समझ लिया जाये। इसके लिये तुलसीदास को देखना अधिक उपयोगी है।

शिव अज शुक सनकादिक नारद।
जे मुनि ब्रह्म विचारि विशारद।
श्रुति पुराण सद्ग्रन्थ कहाहीं। रघुपति भक्ति बिना सुख नाहीं।

जो सन्त-परंपरा सार्वजनीन समता के लिये चली थी वह यहाँ आकर संकुचित हो गई। यह आगे और भी स्पष्ट होता है।

जे जनमे कलि काल कराला। करतब वायस भेष मराला॥
चलत कुपंथ वेद मग छाँड़े। कपट कलेवर कलिमल भाँड़े॥
वंचक भगत कहाय राम के। किंकर कंचन क्रोध काम के॥
तिनमें प्रथम रेख जग मोरी। धिक धर्मध्वज धरमिक धोरी॥
स्वामी राम, कुसेवक मोसे। निज दिशि देख दयानिधि पोसे॥

यह विचार निर्गुण संतों में भी आया है। धीरे-धीरे इस सगुण संन्त-परंपरा द्वारा मानवीय स्वरूपों ने दृष्टि को भर लिया। रामायण और महाभारत, भागवत, और पुराणों का भाषा रूप प्रस्तुत हो गया। और वह भी एक प्राचीन गौरव का स्मरण दिलाता हुआ। यद्यपि अब भी मुक्ति चाहिये, यातना का अंत चाहिये। लेकिन एक ठोस रूप है जिसका आश्रय लिया जा सकता है। जीवन व्यतीत करने का एक आदर्श सामने आ गया है।

यह दूसरे प्रकार का विरोध था। ईश्वर के सामने समानता, उसकी लीला से मुक्ति-याचना, शरीर के दुखों से दूर होना, जन्म-बंधनों से अलग होना, यह अब भी है। वही निर्गुण है, वही सगुण है। समाज में बराबरी नहीं है, पर वह नहीं है, न कभी थी। उसका कोई प्रश्न ही

नहीं। आधारभूत काम क्रोध शत्रु हैं। मन की अनुभूति ही सत्य है। पर वह रहस्य नहीं है, 'उसको' दया है।

जो पै राम चरण रति होती
तो गत त्रिविधि शूल निशि बासर सहती बिपति नसोतः।
नहीं एकौ आचरण भजन,को विनय करत हूँ ताते,
कीजे कृपा दास तुलसी पर नाथ नाम के नाते।

कबीर की बात पर पहुँचना सरल नहीं। निर्गुणों के प्रारंभ रूप में यही कमी है कि उसे हर कोई पा नहीं सकता। परवर्त्ती रूप में जब भक्ति ने छा लिया है, तब यह कठिनाई नहीं रही है। परंतु सगुण की-सी सरसता उसमें कहाँ? यहाँ तो बात सीधी है। बता दिया गया है कि यह है। यह यदि दयालु हो गया तो फिर कोई कठिनाई शेष नहीं रहती।

आत्मग्लानि तुलसी में भी है। किंतु उनको अपनी मर्यादा, अपने उपास्य की मर्यादा का बहुत ध्यान था। उनका उपास्य एक लोकपालक राजा था, जिससे दया की याचना की गई थी और बहुत नम्रता से वैधानिक नियमों को काम में लाया गया था। तुलसी की राम-भक्ति की राह में अनेक बाधाएं आई हैं। उन्होंने द्वैताद्वैत, अद्वैत, द्वैत, शैव, वैष्णव, सबका समन्वय किया है। आत्मग्लानि में उन्होंने कहा है:

जाउं कहाँ तज चरण तिहारे,
काको नाम पतित पावन जग केहि अतिदीन पियारे
कौन देव बरियाई बिरद हित हठ हठ अधम उधारे
खग मृग व्याध पषाण विटप जड़ कहौ कौन सुर तारे
देव दनुज नर नाग मनुज सब माया विवश बिचारे
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु कहा अपनपौ हारे।

इसलिये तो वे केवल राम को चाहते हैं। क्योंकि वे तो राजा हैं। और किसी की तुलसी वंदना भले ही करे, पर शरण क्यों जायें—

दीन को दयाल दानी दूसरो न कोई।
जाहि दीनता कहूँ मैं दीन देख्यौ सोई॥
मुनि सुर नर नाग साहब तो घनेरे।
पै तौलौं जो प्रभु नेक नैन फेरे॥
त्रिभुवन तिहूँ काल विदित वेद चारी।
आदि अन्त मध्य राम साहिबी तिहारी॥
तू ही माँग माँगनों न माँगनों कहायो।
सुनि सुभाव शील यश याचक जन आयो॥
तू गरीब को नेवाज मैं गरीब तेरा,
वार एक कहिये प्रभु तुलसीदास मेरा।

और साथ ही 'सियाराम मय सब जग जानी' की भावना में वे अपने राम को ब्रह्म बना कर कहते हैं कि कुछ नहीं कहा जाता, क्या कहूँ ?

सून्य भीत पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे।

इसमें भावना में भी रहस्य नहीं है, उस ज्ञात की गरिमा मात्र है। सबसे बड़ी यातना के पक्ष में तुलसी ने आत्मवर्णन में जब उद्धार की याचना की है तब वही लिखा है, जो अन्य संतों के मुख से पहले कई बार निकल चुका है। कोई पंथ हो, जो कुछ प्रारंभ से अंत तक की साधना और प्राप्ति है उसका व्यक्तिपक्ष यही है :

कबहूँ हौं यह रहनि रहूँगो
श्री रघुनाथ कृपालु कृपाते संत सुभाव गहूँगो।
यथा लाभ सन्तोष सदा, काहू सों कछु न कहूँगो।
परहित निरत निरन्तर मन क्रम वचन नियम निबहूँगो।
परुष वचन अति दुसह श्रवण सुन तेहि पावक न दहूँगो।
विगत मान सम शीतल मन पर गुण नहिं दोष गहूँगो।
परिहर देह जनित चिन्ता दुख सुख सम बुद्धि रहूँगो।
तुलसीदास याही पथ रहि कं अविचल भक्ति गहूँगो।

कलि से तुलसी ने समाज और व्यक्ति दोनों पक्षों पर घोर संघर्ष किया है। अपने विषयों की अग्नि उन्हें जला रही है—

अब नाथहिं अनुराग जाग जड़ त्याग दुराशा जीते,
बुझै न काम अग्नि तुलसी कहूँ विषय भोग बहु घीते।

निर्गुण संतों की भाँति ही आप एक स्थान पर कह गये हैं:

नाहिन आवत आन भरोसो,
यहि कलिकाल सकल साधन-तरु है स्रम-फलनि फरो सो
तप, तीरथ, उपवास, दान, मख जेहि जो रुचै करो सो
पाएहि पै जानिबो करम-फल भरि भरि वेद परोसो
आगम बिधि, जप जाग करत नर सरत न काज खरो सो
सुख सपनेहु न जोग सिधि साधन रोग वियोग धरो सो
काम क्रोध मद लोभ मोह मिलि ग्यान विराग हरो सो
बिगरत मन संन्यास लेत जल नावत आम घरो सो
बहु मत सुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो
गुरु कह्यो राम-भजन नीको मोहिं लगत राज-डगरो सो
तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि फिरि पचि मरै मरो सो
राम नाम बोहित भव-सागर चाहे तरन तरो सो।

तुलसी की यह अनन्यता हृदय विचलित कर देने वाली है। यह एक व्यक्ति था जो एक उजड़ी हुई दुनिया को फिर उसी रूप में बसा देना चाहता था। यह इतिहास से संघर्ष था। और संत तुलसी का यह भक्ति के प्रति जागरूक हृदय समाज की व्यवस्था को भुला देने वाला नहीं था। और तुलसी के राम निर्गुण, सगुण, शिवमित्र, मर्यादापालक, दुष्टदलन निगमागम के सार होकर ऐसे दीनबंधु होकर आये, जिन्होंने सबको जहाँ भक्ति का प्रश्न था, एक सा ही देखा, चाहे वह निषाद हो, यह शबरी।

पाशुपत, वज्रयान, सहजयान, नाथसंप्रदाय, निर्गुण संतों ने वेद और पुराणों को उठा कर फेंक दिया था। हमने भारतीय संतों की धारा का क्रमशः परिवर्त्तन देखा। यहाँ आकर संत फिर अपनी प्राचीनता को लौटा लाये। उन्होंने वेद, उपनिषद, तथा इतिहास, काव्य, पुराणों को जाग्रत किया।

तुलसी ने भक्ति के पथ से अनेक देवताओं को उनका यथास्थान दिया। चातुर्वर्ण्य को स्थापित करना अपना ध्येय समझा। उन्होंने निर्गुण की बहुत सी बातों को स्वीकार कर लिया :

बिनु गुरु होइ कि ज्ञान, ज्ञान कि होइ विराग बिनु
गावहिं वेद पुराण, सुख कि लहहिं हरि भक्ति बिनु
कोउ विश्राम कि पाव, तात सहज संतोष बिनु
चले कि जल बिनु नाव, कोटि यतन करि पचि मरिअ
बिनु संतोष न काम नसाहीं।
काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं।

तभी उन्होंने यहाँ अपनी परिस्थिति स्पष्ट की है :

ब्रह्म ज्ञान रत मुनि विज्ञानी। मोहि परम अधिकारी जानी॥
लागे करन ब्रह्म उपदेशा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा॥
अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभवगम्य अखंड अनूपा॥
मनगोतीत अमल अविनाशी। निर्विकार निरवधि सुखराशी॥
सो तै तोहिं ताहि नहिं भेदा। वारि बीचि इव गावहिं वेदा॥
विविध भाति मोहि मुनि समझावा। निर्गुण मत मम हृदय न आवा॥
पुनि मैं कहेउँ नाइ पद शीशा। सगुण उपासन कहहु मुनीशा॥
रामभक्ति जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीश प्रवीना॥
सोइ उपदेश करहु करि दाया। निज नयनन्हि देखौं रघुराया॥
भरि लोचन विलोक अवधेशा। तब सुनिहौं निर्गुन उपदेशा॥

पुनि पुनि कहि मुनि कथा अनूपा। खंडि सगुण मत अगुण निरूपा ॥
तब मैं निर्गुण मत करि दूरी। सगुण निरूपौं करि हठ भूरी ॥
उत्तर प्रत्युत्तर मैं कीन्हा। मुनिवर भयउ क्रोध कर चीन्हा ॥
सुनु प्रभु बहुत अवज्ञा कीए। उपज क्रोध ज्ञानिहु के हिये।
अति संघर्षन करै जो कोई। अनल प्रगट चन्दन ते होई ॥
क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान।
माया-वश प्रच्छन्न जड़, जीव कि ईश समान।

उसी मुनि के क्रोध से भक्त जब काग हो गया, तब भी वह खिन्न नहीं हुआ। तुलसी ने भक्ति की विजय प्रमाणित की है। तुलसी को समझने के लिये यह समझना नितांत आवश्यक है कि उन दिनों भारतीय जीवन पर समन्वयात्मक निर्गुण का प्रचंड बोलबाला था।

परंपरा से चली आई आर्य विरोधी रहस्य की खोज को अंत में राम और कृष्ण के साकार रूप मिले। उसमें प्राचीन पौराणिक विरासत मिली। जो समाज बना था उसका आधार अब बोलने लगा। कुछ लोगों का कहना है कि यह केवल मुसलमानों का प्रभाव था। वस्तुतः यह यहाँ की निम्न जातियों का ही प्रभाव था। बावजूद सब बंधनों के भक्त संतों ने मनुष्य को ईश्वर के संमुख एक बराबरी का अधिकार दिया।

अब जन-समाज को शून्य के स्थान पर साकार रूप मिल गये। रहस्यों का अंत हो गया क्योंकि अनुभूति के गहन होने की कोई आवश्यकता नहीं थी। यह मालूम था कि किसकी उपासना करें, कैसे करें, क्यों करें। उसे रोज़ मंदिर में देखते थे। वह मनुष्य जैसा था। उसकी एक कहानी थी। रहस्य के भय को भगवान की लीला ने ले लिया। इस प्रकार समाज में से एक जिज्ञासा खो गई।

जिस प्रकार निर्गुण संप्रदाय में अनेक छोटे-छोटे भेद हो गये, उसी प्रकार सगुण में भी अनेक द्वैताद्वैत के भेद हो गये। किन्तु यह भेद कोई

आधारभूत नहीं थे। वे सब श्रुतिसम्मत थे। ईश्वर को मानते थे। उनमें राम और कृष्ण तो स्वीकृत थे।

परत्रिय लम्पट कपट सयाने। मोह द्रोह ममता लपटाने॥
तेइ अभेदवादी ज्ञानी नर। देखा मैं चरित्र कलियुग कर॥
जे वर्णाधम तेलि कुम्हारा। श्वपच किरात कोल कलवारा॥
नारि मुई गृह संपति नासी। मूंड़ मुँड़ाइ भये संन्यासी॥
ते विप्रन सन पाँव पुजावहिं। उभयलोक निज हाथ नसावहिं॥
विप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार शठ वृषली स्वामी॥
शूद्र करहिं जप तप व्रत नाना। बैठि वरासन कहहिं पुराना॥
सब नर कल्पित करहिं अचारा। जाइ न वरणि अनीति अपारा॥

भए वर्णसङ्कर कलिहिं भिन्न सेतु सब लोग,
करहिं पाप दुःख पावहीं, भय रुज शोक वियोग।
श्रुति सम्मति हरि भक्ति पथ, संयुत ज्ञान विवेक,
तेहि न चलहिं नर मोह वश कल्पहिं पंथ अनेक।

तुलसी का दुःख वही है जो ईसा के पूर्व व्यवस्था बिगड़ती देख कर यूनानी और रोमन दार्शनिकों में हो गया था। उस समय गुलामों के मारे नाक में दम थी। कलियुग का वर्णन पढ़ना आवश्यक है। तुलना करके महाभारत से देखिये। मूल में एक ही स्वर है कि वर्णाश्रम बिगड़ गया। हाय अब क्या होगा—

कलिमल असेउ धर्म सब, लुप्त भए सद् ग्रन्थ,
दंभहिं निजमत कल्पकरि, प्रकट कीन्ह बहु पंथ।
भयउ लोग सब मोह वश, लोभ ग्रसेउ शुभ कर्म,
सुनु हरियान ज्ञान निधि, कहौं कछुक कलि धर्म।

वर्ण धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति विरोध रत सब नर नारी॥
द्विज श्रुति वंचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मानु निगम अनुशासन॥

मारग सोइ जाकहँ जोइ भावा। पण्डित सोइ जो गाल बजावा॥
मिथ्यारंभ दम्भरत जोई। ताकहँ सन्त कहैं सब कोई॥
सोइ सयान जो पर धन हारी। जो करु दंभ तो बड़ आचारी॥
जो कह झूंठ मसखरी जाना। कलियुग सोइ गुणवन्त बखाना॥
निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलियुग सोइ ज्ञानी वैरागी॥
जाके नख अरु जटा विशाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥

अशुभ वेष भूषन धरे, भक्ष्याभक्ष्य जे खाहिं,
ते योगी ते सिद्ध नर, पूजित कलियुग माहिं।
जे अपकारी चार तिन्हकर गौरव मान्यता ,
मन क्रम वचन लबार. ते वक्ता कलिकाल महँ।

नारि विवश नर सकल गुसाईं। नाचहिं नट मर्कट की नाईं॥
सूद्र द्विजन्ह उपदेशहिं ज्ञाना मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना॥
सब नर काम लोभ रत क्रोधी। देव विप्र गुरु सन्त विरोधी॥
गुणमन्दिर सुंदर पति त्यागी। भजहिं नारि पर पुरुष अभागी॥
सौभागिनी विभूषन हीना। विधवन्ह के शृंगार नवीना॥
गुरु शिष अन्ध वधिर कै लेखा। एक न सुनै एक नहिं देखा॥
हरै शिष्य धन शोक न हरई। सो गुरु घोर नरक महँ परई॥
मातु पिता बालकन्ह बुलावहिं। उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं॥

ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर, कहहिं न दूसरि बात ,
कौड़ि कारण मोह वश, करहिं विप्र गुरु घात।
बादहिं शूद्र द्विजन्ह सन, हम तुमसे कछु घाटि ,
जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर, आँखि दिखावहिं डाटि।

१३

योद्धा संत

मुगलों का पतन धीरे-धीरे प्रारंभ हुआ। उस समय हमें समर्थ

गुरु रामदास तथा गुरु गोविंदसिंह के दर्शन होते हैं।

दोनों ही निर्गुण के अनुयायी थे। दक्षिण में जो परंपरा ज्ञानेश्वर से चली थी, विठोवा के मंदिर के भक्तों के सगुण का जो मानवतावाद था, वह दोनों मिल गये और रामदास का प्रादुर्भाव हुआ। रामदास शिवाजी के गुरु थे।

उत्तर की समस्त संत-परंपरा को केन्द्रीभूत करके गोविंदसिंह ने नानक को सीधे-सीधे आगे बढ़ाया। इनका वाह्याचरण देखना इस समय उचित नहीं होगा। इतना कहना काफ़ी है कि संसार को व्यर्थ मात्र समझने वाले, अनहद सुनने की चाह रखने वाले यह मानवतावादी विशेष परिस्थिति में उग्र हो गये और इन्होंने सैन्य बल का आयोजन किया। धार्मिक अनुयायियों ने अपनी रक्षा के लिये तलवार उठाई और अनेक लोग बलिदान हो गये। व्यक्ति का जहाँ तक आत्मवेदन का प्रश्न था, जहाँ तक अध्यात्म का सवाल था, इनमें अपने पूर्ववर्त्तियों से कोई भेद नहीं था। केवल संसार में क्या करना है, किस प्रकार रहना है, इस पर एक भिन्न रूप से प्रकाश डाला गया।

इन उत्तर हिंदूकालीन संतों का क्षेत्र सांस्कृतिक अधिक था, आध्यात्मिक कम।

इस्लाम की विशद विवेचना ही इस पर प्रभाव डाल सकेगी। इन्होंने जाति-पाँति का विरोध किया। और इसी के परिणाम-स्वरूप भारत में एक बार वही योगियों वाली परंपरा आ गई। अबके वे सिख कहलाये जो शिष्य हुए। यह लोग सांसारिकता से अलग नहीं हुए। जैसे योगी भी घरबारी होते थे, पर मध्यग समझे जाते थे, वही यहाँ भी हुआ।

यह वह परिस्थिति आ गई जब भारत का समन्वयवादी निर्गुण भी इस्लाम का विरोधी हो गया।

पहले के संतों में यह भावना नहीं थी। हम ऊपर स्वयं गुरु गोविंदसिंह के पूर्ववर्त्ती गुरु नानक पर दृष्टिपात कर आये हैं। नानक ने जहाँ

एक ओर जाति भेद के विरुद्ध आवाज़ उठाई थी. दूसरी ओर वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के भी घोर पक्षपाती थे। तभी उन्होंने कहा था कि हिन्दू और मुसलमान दोनों ही भटक रहे हैं। वे असली राह को भूल गये हैं। एक अलग पंथ इसीलिये चलाया गया कि जो दोनों में से एकता की ओर बढ़ना चाहें वे दोनों से अलग आ जायें। परन्तु वह स्वप्न पूर्ण नहीं हुआ। अब भी निर्गुण की ही सत्ता मानी गई, किन्तु मत में यह हिन्दू निर्गुण था। वास्तव में दोष प्रारंभ में ही रह गया था। प्रारंभ से ही नानक के निर्गुण का स्वरूप वाह्यरूप में शरीयत, उक़वा और लाहूत, मलकूत आदि को त्याग देने के कारण, कबीर की तुलना में अधिक हिन्दू हो गया था।

पेन ने लिखा है कि भारत में शक्ति संप्रदाय में काली, भवानी, दुर्गा का प्राबल्य तभी देखा गया है जब कोई भारी विपत्ति आती है। यद्यपि यह पूर्ण सत्य नहीं है, फिर भी कुछ अंश तक इसे ठीक कह सकते हैं। इन संतों ने देवीपूजा को तो किसी अंश तक स्वीकृत ही कर लिया था।

१४

नव भारत धर्म

ब्रिटिश शासन काल में भी भारत में संतों की परंपरा टूटी नहीं। प्रारंभ में ब्रह्मसमाज जाग उठा। तदनंतर दयानंद आये। उसी समय आर्यसमाज की स्थापना की गई। बंगाल में रामकृष्ण परमहंस हुए। विवेकानंद तथा रामतीर्थ ने इसी परंपरा को आगे बढ़ाया। सबके आखिर में महात्मा गांधी तथा योगी अरविंद का नाम प्रमुख है। इनको विस्तार से देखना चाहिये। यह समय हमारे इतने निकट है कि हम इसको पूर्ण तथा निष्पक्ष दृष्टि से नहीं देख पाते। अब हमें इनकी समाज के संबंध में व्याख्या करनी चाहिये।

ब्रह्मसमाज, विवेकानंद, रामकृष्ण परमहंस, योगी अरविन्द, क्रमशः

उपनिषदवाद तथा ब्रह्मवाद; वेदांत; शाक्त भक्ति जिसमें वेदांत और मातृ रूप का समन्वय था; पुराना राजयोग, कहे जा सकते हैं । वे एक पुरानी परंपरा के द्योतक हैं । महान व्यक्तियों ने उन्हीं परंपराओं को जागरुक रखा है ।

गांधी और दयानंद ही वास्तव में हमारे युग के प्रमुख व्यक्ति हैं ।

जिस प्रकार बुद्ध ने सत्य को ही सब मे ऊँचा माना था उसी प्रकार दयानंद ने भी । इसलिये उन्होंने निम्नलिखित श्लोकों को उद्धृत किया है:

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तेर वा
न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीरा (भर्तृहरि)
न जातु कामान्नभयान्नलोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितास्यापि हेतोः
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः
(महाभारत)

नहि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम् ।
नहि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात् सत्यं समाचरेत् ।

अस्तु । ईश्वर सर्वज्ञ है । निराकार सर्वव्यापक शक्तिमान अजन्मा अनंत दयालु न्यायकारी है । चारों (वेद विद्या धर्मयुक्त ईश्वर प्रणीत संहिता मंत्र भाग) निर्भ्रान्त स्वतः प्रमाण हैं । ब्राह्मण ग्रंथ, षडङ्ग, षडुपाङ्ग, चार उपवेद, ११२७ वेद शाखा परतः प्रमाण हैं । वेद विरुद्ध ईश्वर विरुद्ध है । इच्छा, द्वेष, सुख दुःख और ज्ञानादि गुणयुक्त अल्पज्ञनित्य है वही जीव है । ईश्वर की सामर्थ्य साफल्य के हेतु सृष्टि है यही इसका प्रयोजन है ।

वर्णाश्रम धर्म कर्मों को योग्यतानुसार माना जाना चाहिये । भागवत आदि पुराण माने जाने योग्य नहीं हैं । तीर्थ दुखसागर से पार उतरने के रास्ते हैं, जल स्थान नहीं । जड़ मूर्त्ति पूजा व्यर्थ है । पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा

है। आठों प्रमाण मानने चाहिये। और अत में दयानंदने लिखा है : और जो मतमतान्तर के परस्पर विरुद्ध झगड़े हैं उनको मैं प्रसन्न नहीं करता क्योंकि इन्हां मतवालों ने अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फँसा के परस्पर शत्रु बना दिये हैं। इस बात को काट सर्व सत्य का प्रचार कर सबको एक्यमत में करा द्वेष छुड़ा परस्पर में हठ प्रीति युक्त करा के सबसे सबको सुख लाभ पहुँचाने के लिये मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है।

ओम् शन्नो मित्रः शं वरुणः। शन्नो भवत्वर्य्यमा। शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः। शन्नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिपम्। ऋतमवादिपम्। सत्यमवादिपम्। तन्मामावीत्। तद्वक्तारमावीत्। आवीन्माम्। आवीद्वक्तारम्। ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

दयानद का वास्तविक कार्य इतना ही नहीं था। तुलसी के बाद अपने सामाजिक कर्त्तव्यों के प्रति यदि कोई उतना ही जागरुक संत हुआ तो वह महर्षि दयानंद ही थे। उन्होंने सबसे पहले भारत में स्वराज्य शब्द का प्रचलन किया। व्यक्तिगत जीवन में अखंड ब्रह्मचर्य और योग की साधना करते थे। वास्तव में इस संत का व्यक्तिपक्ष अन्य संतों की अपेक्षा कम था। समाजपक्ष ही अधिक था। वे शंकराचार्य की भाँति शास्त्रार्थ किया करते थे। उन्होंने अपने आपको वेद से ले जाकर बाँध लिया था। यद्यपि ब्राह्मणवाद के प्रतीक नहीं थे, तथापि आर्यत्व का उन्हें बहुत अभिमान था। उन्हें खेद था कि आर्यजाति निर्वीर्य होकर संसार में अनेक प्रकार के क्लेश भोग रही है। आर्यों ने ही संसार में आलोक फैलाया था। दयानंद समाज को फिर वेद की ओर खींच ले चले। किन्तु विधवा, बालक, स्त्री, पुरुष, जाति, धर्म—इनमें से किसी का भी अत्याचार उन्हें बिल्कुल स्वीकृत नहीं था। जो काम धर्मशास्त्र में मनु ने, नियमों में कौटिल्य ने, खंडन-मंडन में शंकर ने किया, दयानंद ने उन सबको पूरा करने का प्रयत्न किया।

उस समय देश में स्पष्ट ही एक विदेशी का शासन था। इसे दयानंद ने कुछ तो राष्ट्रीय अपमान समझा, कुछ जातीय पतन और वे प्राचीनता के हामी बन कर उठ खड़े हुए।

दयानंद ने एक समता का भाव फैलाना प्रारंभ किया। उन्होंने ईश्वर, जीव की व्याख्या की किन्तु निःसंदेह उनके प्रचार में एक सार्वभौमिकता नहीं थी। इसका कारण था वेद को सबसे परे मानना। कोई हिन्दू इसे मान सकता था। अन्यों के लिये यह तनिक कठिन था। इसके मूल में वही चेतना थी जो गुरु गोविन्द में थी।

मूल में वेद माना गया। इसमें जो बाह्याचरण था उसकी सीमाएं संकुचित हो गईं। बजाय इसके कि मुसलमान निकट आते वे दूर हो गये।

अंगरेज़ी युग में ईसाई धर्म का भी प्रसार हो रहा था। दयानंद को इससे भी चिढ़ थी। उन्होंने एक सिलसिले से यहूदी, मुस्लिम, ईसाई धर्म पर प्रहार किया। यह प्रहार वहीं नहीं रुके। नास्तिक—बौद्ध, जैन, लोकायत, आभाणक पर भी हुए। और फिर इन्होंने आर्यावर्त्त देशीय मत-मतान्तर खण्डन किया। मंत्रसिद्धि, वाममार्ग, अद्वैतवाद; भस्मरुद्रादि तिलक वैष्णवमत, मूर्त्तिपूजा. पञ्चायतनपूजा, गयाश्राद्ध, जगन्नाथ तीर्थपूजा, गंगास्नान, भागवत पुराण, सूर्यादिग्रहपूजा, मारण मोहन उच्चाटन. शैव मत, शाक्त वैष्णव, कबीरपन्थ, नानकपन्थ, रामसनेही पंथ. गोकुल गोस्वामी मत, स्वामीनारायण मत, ब्रह्मसमाज, प्रार्थना समाज, तन्त्र, भक्ष्याभक्ष्य निर्द्वंद्वता, सबको फटकार कर धर दिया और आर्यसमाज की प्रतिष्ठा की।

दयानंद ने श्रद्धा और भक्ति के स्थान पर बुद्धि और तर्क को बड़ा स्थान दिया है। एक प्रकार से जो कुछ भारत में अभी तक हुआ था, दयानंद ने उस सबको ठुकरा कर कहा : वेदों की संतान, वेद तुम्हारे सामने हैं। वेद की ओर चलो। हिंसा कर्म मत करो। ईश्वर ने ही वेद तुम्हारे लिये बताया है।

कबीर के प्रहारों में जो गुरुता थी वह दयानंद में नहीं है। दयानंद ने

आंतरिक दृष्टिकोण से वस्तुओं को नहीं देखा। उनके आक्षेप बहुत से तो ऐसे हैं कि सुनते ही हँसी आ जाती है। पोपलीला और पुराणपंथ के इस अथक विरोधी को शीशा पीसकर खिलाकर इसकी हत्या की गई।

दयानंद ने जो तर्क बुद्धि दूसरों पर लागू की है, अपने आपको उन्होंने उससे अछूता माना है। पश्चिम की राजनीति—अर्थात् राज्य-संबंधी नीति उनमें अधिक प्रभाव डाल सकी। पूर्वीय राजनीति अर्थात् जात-पाँत धर्म-विश्वास इत्यादि उनमें तुलनात्मकता में कम थी। इसीसे हमें यह कहीं नहीं मिलता कि दयानंद ने अपने लिये कहीं हाहाकार किया हो जैसा कि अन्य संतों ने। उन्होंने सामूहिक संतोष का यत्न किया है। किन्तु आधारभूत बातों में कहीं परिवर्तन नहीं किया। संसार दुःख ही है। देह दुःख ही है। ज्ञान से रास्ता खुलता है।

महात्मा गांधी को लोग राजनीतिज्ञ ही मानते हैं। प्रगतिवादियों में कुछ उग्रपंथियों का विचार है कि गांधी एक पूंजीवाद का जानकार समर्थक था। हमने अभी तक व्यक्ति के ऊपर प्रकाश डाला है। आगे हम समाज-पक्ष पर प्रकाश डालेंगे। इस दृष्टिकोण से जो ऊपर दिया गया है, हमारे अब तक के संत सब बेईमान और चालाक साबित होंगे। मैं इस मत को अशिक्षा का परिणाम मानता हूं। भारतीय संस्कृति को न समझने का नतीजा मानता हूं। यदि कहा जाये कि गांधी ने राज्य व्यवस्था के विषय में अधिक दिलचस्पी ली और यही उसके यश का कारण था तो उसका उत्तर भी उसके लोकपक्ष में है। जो हो हम अपनी धारा को फिर से देखते हैं।

अहिंसा यद्यपि अनेक बार पहले भी संसार में प्रचार पा चुकी थी, किन्तु गांधी ने उसे आजीवन निभाया। ईसाई धर्म का प्रभाव जब गीता के कर्मवाद, कबीर के साम्यवाद, तथा वैष्णवों की भक्ति धारा में मिला, तब निर्गुण और भक्ति का सामंजस्य हुआ और वहां सार्वभौम प्रेम फिर से जागरूक हुआ जो ब्राह्मणवाद के विरोध में परंपरा से चला आ रहा था।

अब की बार न इसने सिद्धि में विश्वास किया, न चमत्कार में। भूत प्रेत रहस्य सब छूट गया। बहुत दिन से अल्लाह और राम जो अलग-अलग हो गये थे, गांधी ने अपने गीत में दोनों को एक कर दिया :

ईश्वर अल्लाह तेरे नाम,
रघुपति राघव राजा राम।

इसके साथ ही परमेश्वर से एक प्रार्थना थी कि—

सबको सन्मति दे भगवान।

स्त्री के प्रति गांधी ने कभी भी घृणा नहीं दिखाई। उसने यह भी नहीं किया कि केवल मातृरूप की वंदना की। पत्नी भी आवश्यक थी। पुत्री, बहिन, अर्थात् संसार के मानवीय सम्बन्ध सब आवश्यक थे। स्त्री से घृणा करना अपने आप से घृणा करना है। अपना अज्ञान दिखाना है। स्त्री को स्वतंत्रता न देने के कारण ही वह विकृत हो गई है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं था कि स्त्री को यूरोप की स्वतंत्रता दिलाना चाहते थे। गर्भ-निरोध दवाओं से नहीं करो, सयम से करो।

जीवन की सबसे बड़ी शक्ति वीर्य रक्षा है। ब्रह्मचर्य है। स्त्री हो या पुरुष, दोनों के लिये यह नितांत आवश्यक है।

यदि मनुष्य यह जान ले कि वह जो करता है, वह एक झूठा विश्वास है अर्थात् जो करता है ईश्वर करता है, तो उसको दलदल में फँसाने वाला अहंकार कभी उसके समीप भी नहीं फटक सकता। अच्छे और बुरे कामों के अनुसार ही मनुष्य इस पृथ्वी पर बार-बार जन्म लेता है। यह आवागमन एक दुःख है। ईश्वर की सच्ची भक्ति, अथवा उस पर अपने आपको छोड़ देने का विश्वास मनुष्य में आवश्यक है। इसके बाद मनुष्य कर्म के फल की आसक्ति से जब मुक्त हो जाता है, तब उसकी फल की आशा एक व्यक्ति की नहीं होती, समस्त समाज की हो जाती है. तब वह संकोचों के परे हो जाती है।

मनुष्य घृणा करता है क्योंकि उसकी आत्मा में कोई कलुष छिपा रहता है। वह उसी कलुष के कारण भीतर ही भीतर भयभीत हुआ करता है। भय से ही हिंसा का जन्म होता है। इसलिये मनुष्य को अपने काम-क्रोध मोह-लोभ छोड़ कर स्थितप्रज्ञ तथा वीतराग हो जाना चाहिये।

भोजन से विकार उठते हैं। अतः मनुष्य को सात्विक भोजन करना चाहिये। पाखंडी कभी सच्चा नहीं होता। वाह्याचरण मात्र से कुछ नहीं होता। इसीलिये गांधी ने अपना जनेऊ उतार कर फेंक दिया।

किंतु ईश्वर पर अपने को अर्पित कर देने का अर्थ यह कदापि नहीं है कि वह पुरुषार्थ से हीन हो जाये। उसकी यह सत् से सत्तम की ओर जाने की बलवती इच्छा ही उसकी आत्मा को शुद्ध करती है।

गांधी ने मुसलमान तथा नीच जातियों के लिये जीवन भर प्रयत्न किया। मुसलमानों के लिये तो अंत में अपनी जान तक दे दी। जिस समय हत्यारे ने उस पर पिस्तौल उठाया, वह तनिक भी नहीं डगमगाया। उसने मुस्करा कर उसे हाथ जोड़ दिये। यूरोप इस प्रखर प्रभाव से चकित हुआ।

अपने को ऊँचा कहने वालों के दाव में गांधी की आत्मा कभी नहीं आई। मनुष्य जन्म, जाति, कुल तथा वंश के कारण कभी ऊंचा नीचा नहीं हो सकता। जो कुछ वह है वह अपने कर्मों के कारण। इसीलिये गांधी ने दलित नीच जातियों को हरिजन कहा और इस बात को बार-बार कहा कि जो उन्हें नीच कहता है वह वास्तव में वही है जो दूसरों से कहता है। गांधी ने भारतीय इतिहास में पहली बार कुरान गीता बाइबिल को एक साथ, एक ही प्रार्थना में पढ़वाया और वह व्यक्ति यह हठ करता रहा कि सबको इसे स्वीकार करना चाहिये।

जीवन की अभावगत अवस्था में रहकर कबीर ने जो ब्राह्मणों को खरी-खरी सुनाई है, वह गांधी में हमें नहीं मिलता। गांधी की अकर्मण्यता में

काले रंग के कारण, अनेक अपमान सहने पड़े। किन्तु गांधी ने शस्त्र नहीं उठाया। उसने एक ऊँचे स्थान से देखा कि यह घृणा एक स्वार्थ का परिणाम है। मनुष्य अपने आपको स्वामी क्यों बनाता है? क्योंकि वह अपने कलुषित जीवन का दास हो जाता है। इसलिये गांधी ने कहा: मैं वही करूँगा जिसमें क्रोध अधिक न हो। मैं सत्याग्रह करता हूँ। यदि मैं गलत हूँ तो मुझे समझा दो, अन्यथा यदि सत्य मेरी ओर है तो वह सदैव आग्रह करेगा। मैं पाप से असहयोग करूँगा।

गांधी ने राजनीति का छलफ़रेब मिटाने का प्रयत्न किया। मनुष्य धोखा देता है। लेकिन क्यों? क्योंकि वह दूसरे से कुछ अधिक निकाल लेना चाहता है। ईश्वर को सामने रख कर सब काम करो। इसीलिये गांधी ने हिंसा करनेवाले लोगों को सहायता नहीं दी। क्रान्तिकारियों का महान् आदर्श और उसकी साधना भी गांधी को प्रिय नहीं थी।

गांधी ने स्पष्ट ही कहा है: अंगरेज़ों ने जो किया है वही मेरा भारत में आदर्श नही है। क्यों सेना में जाते हो, और फिर धोखा देते हो? यदि तुम उसे स्वीकार नहीं करते तो खुले तौर पर उन्हें छोड़ दो। यदि तुम सत्य पथ पर हो तो तुम्हें, जो करना चाहते हो, उससे कोई नहीं रोक सकता।

राजनीतिक दृष्टिकोण तो इसे नहीं कहा जा सकता। और भी: मनुष्य दास है क्योंकि वह अपने बंधनों में स्वयं जकड़ा हुआ है। यदि तीन दिन भी भारतवासी यह समझलें कि उनके सहयोग से ही उनकी दासता की शृंखला मज़बूत है तो वे आसानी से उसे तोड़ सकते हैं।

गांधी ने नास्तिकों को भी घृणा की दृष्टि से नहीं देखा। जीवन के प्रति यदि किसी में सच्ची अनुरक्ति है, तो गांधी ने उसे सम्मान की दृष्टि से ही समझा। ज्ञान पथ में गांधी को विशेष श्रद्धा नहीं थी. इसमें उन्हें सदैव अहंकार दिखाई दिया।

उन्होंने राम के प्रति कहा है: क्या हुआ यदि राम एक ऐतिहासिक

व्यक्ति था या नहीं था। क्या जो शिक्षा हमें उस नाम से मिली है, वह हमारे लिये काफ़ी नहीं है ?

मनुष्य की सेवा करना ही सबसे महान कर्म है। अपने विरोधियों से भी गांधी ने घृणा नहीं की। जो हो, अंगरेज़ों के भले के लिये ही, वे कहते थे, भारत स्वतंत्र होना चाहिये। क्योंकि इस पाप से कि वे मनुष्य को दास बना कर रखते हैं, उनकी आत्मा स्वयं पवित्र और स्वतंत्र नहीं रह सकती।

गांधी किसी भी धर्म के शत्रु नहीं थे। उन्होंने जीवन पर्यंत चेष्टा की कि सब धर्मों का सार इकट्ठा कर लिया जाये। जिसमें आधारभूत बातें हों उनको मनुष्य अपना ले तो कल्याण हो सकता है। जो कुछ है वह उस परमात्मा की माया है। सादा जीवन व्यतीत करो। सांसारिक 'सुख ही सब कुछ नहीं है। किन्तु पराधीन बन कर मत रहो। जीवन को निर्भय होकर व्यतीत करो।

हत्या का बदला हत्या, पाप का बदला पाप कभी भी नहीं हो सकता। मनुष्य आधार रूप में अच्छा है। उस पर विश्वास करना चाहिये। विश्वास से पर्वत हिल जाते हैं। भौतिक शक्ति का अभिमान रखनेवाले कभी आत्मिक शक्ति के सामने नहीं ठहर सकते। वे देह को कष्ट देते थे। यह उनकी आत्मशुद्धि का एक साधन था। उन्होंने कई बार अपने सत्य के आग्रह में उपवास किये।

समाज

अभी तक हमने व्यक्तिपक्ष से ही परिचय दिया है। संतों ने किस काल में क्या रूप धारण किया इसी का उल्लेख किया गया है। किन्तु प्रारम्भ में कहा जा चुका है कि यह संत केवल संत ही नहीं थे, अर्थात् वे ही नहीं थे जो ईश्वर की खोज में, अथवा जो भी उनकी प्रेरणा थी, उसी में लगे रहकर संसार से अलग होकर जीते थे, मर जाते थे,। ये लोग समाज ही में रहते थे। इनके प्रत्येक के पीछे एक इतिहास होता था। भाषा, रहन-सहन, जाति, धर्म विश्वास, उपासना के सिद्धान्त, इतिहास, भूगोल ज्ञान, सामाजिक नियम तथा दार्शनिक विचार होते थे। उसी पृष्ठभूमि पर यह पलते थे। खास-खास बातें खास-खास हालतों में उन पर जो असर डालती थीं, वे ही आगे जाकर उनका सिद्धान्त बनाती थीं। वे उन पर ईमानदारी से विश्वास करते थे और फिर भी एक लंबा इतिहास आगे आनेवालों के लिये बचा रह जाता था। अर्थात् संत का प्रभाव आने वालों तथा समसामयिकों पर पड़ता था। जब तक संत जीवित होता था वह अधिक से अधिक प्रयत्न करके जिसे जैसा चाहता था, वैसा ही बनाये रखने की चेष्टा किया करता था।

संतों के पीछे जनमत क्यों इकट्ठा होता था और आगे चलकर अनुयायी क्या करते थे, इसकी एक बड़ी रोचक कहानी है। ईसाई, यहूदी तथा मुसलमानों में भी कुछ ऐसी ही बात हुई। भारत में भी यही हुआ।

लोगों ने संतों के बाद उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। उन्हें अपने से ऊँचा मानकर उनकी पूजा तक की। जिस रूप में हमने संत-परंपरा को देखा, उसी रूप में हमें संतों के कार्य का परिणाम भी खोज कर निकालना चाहिये जिसने एक समय लोगों को इतना मोहित कर दिया था।

कोई भी बात तब ही प्रसार पाती है जब उसकी कोई आवश्यकता होती है। समाज के सब लोगों को कभी कोई बात पसंद नहीं लगती। समाज के अलग-अलग स्तर हैं, वर्ग हैं, जातिभेद हैं। जिसके फायदे की जो बात होती है वही वर्ग उसे अपना लेता है। संतों के विषय में वास्तव में यही हुआ। जब हम भारत के विषय में सोचते हैं तब निम्नलिखित दृष्टिकोण से इतिहास को देखना अत्यन्त आवश्यक है :

एक—संत-परम्परा के दृष्टि कोण से।

दो—धर्मशास्त्र की व्यवस्था के दृष्टिकोण से।

तीन—दार्शनिकों के दृष्टिकोण से।

इन तीनों ही बातों के आचार्य हमारी संत-परंपरा में किसी न किसी अंश तक घुस आते हैं। भारतीय समाज को समझने के लिये निम्नलिखित बातों को जानने की भी आवश्यकता है :

एक—यहाँ कौन-कौन सी उपासना-पद्धतियाँ रहीं जैसे विष्णु, शिव, गरुड़, नाग, आदि की उपासना। जातियों के परस्पर मिलन से यह देवता क्या थे और क्या हो गये। इन्हीं में जयपुर की शिल्लादेवी, करौली की भवानी, तथा भूतप्रेतों आदि का वर्णन, आदि-आदि इसी टाइप के देवताओं के वर्णन भी आने चाहिये। अंगरेज़ी में इसे Study of cults and tribes कहना ठीक होगा।

दो—इनके अतिरिक्त बाहर से कौन-कौन सी जातियाँ आईं, उनके क्या विश्वास थे। उनका क्या प्रभाव पड़ा। यहाँ जाति के लिये race शब्द ठीक रहेगा।

तीन—यहाँ का जाति-भेद क्या था। उसकी क्या परंपरा तथा मर्यादा

थी। इस जाति के लिये caste शब्द उचित है। हम यहाँ ट्राइब के लिये 'कबीला जाति' का प्रयोग करेंगे। रेस के लिये हम केवल 'जाति' तथा 'कास्ट' के लिये 'वर्णाश्रम जाति' कहेंगे।

यदि इन समस्त परम्पराओं को मिलाकर लिखा जाये तो भारतवर्ष का वास्तविक इतिहास तैयार हो सकता है। अस्तु। अब हम संक्षेप में इसे देखेंगे।

बहुधा पश्चिमीय विद्वान कह देते हैं कि भारत में वर्ग-संघर्ष के विषय में स्पष्ट कुछ नहीं दिखता। इसका कारण है। भारत का इतिहास कोई पाँच या छः सौ वर्ष में समाप्त नहीं हो जाता। जब से भारत में आर्य आये तब से अंगरेज़ों के आने तक यहाँ उत्पादन के साधनों में कोई फ़र्क नहीं आया। भारत एक खेतिहर देश बना रहा। अंगरेज़ों के आने के बाद भी यह एक खेतिहर देश ही बना रहा। भारत की अधिकांश जनता उन्हीं परंपराओं में चलती रही। जिस प्रकार यूरोप में बर्बर युग में शासक तथा दास, सामंतयुग में राजा तथा खेतिहर, सर्फ़, किसान, पूँजीवादी युग में मिल मालिक तथा मज़दूर का द्वंद्व पाया जाता है, उसी प्रकार भारत में भी पाया जाता है। भारत में इसका रूप इस प्रकार है: १. आर्य तथा दास। आर्येतर। २. ब्राह्मण तथा सवर्ण एक ओर, और निम्न जातियाँ दूसरी ओर। इन वर्णाश्रमजातियों का इतिहास ही बहुत लंबा है। वर्णाश्रम जातियों को आर्थिक दृष्टिकोण से देखने पर ज्ञात होता है कि सवर्ण शोषक थे, निम्न जातियाँ शोषित। ३. मिल मालिक तथा मज़दूर। यह पूंजीवादी युग की देन है।

इस बीच में अनेक जातियाँ आईं। वे यहाँ पहले कबीला जाति बन कर रहीं। या तो बनी रहीं या फिर वर्णाश्रम जातियों में अपने पेशे के अनुसार घुल-मिल गईं। हम वर्णाश्रम धर्मवाली व्यवस्था को ब्राह्मणवाद कहते हैं। यह व्यवस्था ब्राह्मण की बनाई हुई थी। यह सवर्णजातियां तीन हैं: ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य। हमने देखा है कि अधिकार और

शासन अब उतर कर वैश्य के हाथ में आ गया है। यद्यपि ब्राह्मण के अधिकार बहुत कम हो गये हैं; पर अभी उसका प्रभाव है। इसी ब्राह्मणवाद की पृष्ठभूमि में हमें इस समस्त सन्त-परंपरा को फिर से देखना चाहिये।

व्रात्य जाति-बंधन के विरुद्ध थे। व्रात्यों के अनुयायी रूप में समाज ने पहले घोर आर्य विरोध किया, जिसके कारण उन्हें सदैव आर्यों को अत्यंत बुरा कहा, उनसे अलग रहने की राय दी, उन्हें धर्म के विरुद्ध तथा अशुद्ध निर्णीत किया। किन्तु व्रात्यों को आगे चलकर उन्होंने अच्छा कहा। इससे स्पष्ट है कि व्रात्य यदि एक पक्ष में अत्यन्त प्रभावशाली थे, तो दूसरी ओर उन्होंने भी अपने ब्राह्मण-विरोध को तुलनात्मक रूप में अपेक्षाकृत कम कर दिया।

सब ही समाज व्रात्य नहीं हो गया। परन्तु आर्यों से इस प्रकार समझौता करने की यह प्रवृत्ति आर्येतरों के लिये अच्छी नहीं हुई। आर्य नये शासक थे। व्रात्य परंपरा में आर्येतरों का प्राचीन अहंकार था कि वे किसी से भी कम नहीं हैं।

कालांतर में इन व्रात्यों का कहीं नाम भी नहीं मिलता। तो क्या इससे यह समझा जाये कि समाज में फिर वे रहे ही नहीं? नहीं। इसका स्पष्ट प्रभाव है कि व्रात्य बनकर बहुत से धूर्त घूमने लगे और केवल वेशभूषा रखकर लोगों को छलने लगे।

आर्येतर प्रारंभ में दास बनाये गये। उसके बाद उनसे विवाहादि आर्यों को विवश होकर करने पड़े। उस समय उनके विश्वास आर्यों पर छा गये। आर्य प्रयत्न करके भी उन्हें रोक नहीं पाये।

समाज पर व्यक्तिवाद का प्रभाव पड़ा। आर्येतर अपनी पराजित परिस्थिति को अब धीरे धीरे अधिकाधिक स्वीकार करते जाते थे, क्योंकि आर्येतर स्त्री का आर्य्य विरोध गर्भवती होते ही छूट जाता था, फिर संतान की ममता उसके मातृहृदय में पुराने विरोध को दबा देती थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्रात्य का सामाजिक प्रभाव बहुत दूर नहीं चला। व्यक्ति से एकांगी होकर वह समाप्त हो चला। जनसमाज का दुख दूर नहीं हो सका। ब्राह्मण ने अपनी इच्छा से यहाँ के रहनेवालों का विभाजन किया। यहाँ के लोगों से घृणा करने वाले, अपने को विजेता के मद और श्रेष्ठता में भुलाये हुए आर्य, यहाँ के निवासियों को दास से शूद्र कहने लगे। ब्राह्मण और क्षत्रिय सर्वशक्तिमान हो चले। शूद्र प्रायः दास ही था। उस समय का दास वास्तव में अपने प्राणों पर अपना अधिकार भी नहीं रखता था। वह खेती करता था, किन्तु खेतिहर बनकर नहीं, दूसरों के खेतों को जोत कर। तभी दक्षिण भारत में अभी तक ब्राह्मण के लिये हल चलाना वेद विरुद्ध अर्थात् धर्म विरुद्ध समझा जाता है। दास की पत्नी उसकी अपनी नहीं थी। उससे कोई भी संभोग कर सकता था।

समाज में मनुष्यों का क्रय-विक्रय होता था। व्रात्य इसे नहीं रोक सके थे।

इन व्रात्यों के भव्य और महान् व्यक्तित्व ने आर्यों को प्रभावित किया। वे फिर भी स्वतंत्रता की मशाल जलाये खड़े रहे। किन्तु उनका सांसारिकता में कोई हाथ नहीं था। वे आर्यों से न भूमि छीनने के हामी थे, न अब शासन फिर से हाथ में लेना चाहते थे। यह उनके लिये छोटी चीज़ थी।

इसीलिये आर्यों ने कहा यह व्यक्ति बहुत ऊँचा है। बहुत पहुँचा हुआ है। सामर्थ्य रखकर जो त्याग करे वही वास्तव में त्यागी है और उन्होंने कहा :

वह सबको प्रिय है,

उसका सब पर अधिकार है।

वह प्रजापति से सबके भले के लिये बात करता है.........

क्योंकि वास्तव में वह कुछ भी करना छोड़ चुका था। सबसे अलग था।

आर्य संत वानप्रस्थ, और सन्यास लेते, या तपोवनों में, जंगलों में जाकर जीवन व्यतीत करते, कभी नगर आते, कभी आपत्ति के समय राजा और नागरिक स्वयं उनके पास चले जाते। इस समय समाज की व्यवस्था ब्राह्मणकृत थी। ब्राह्मण और क्षत्रियों में परस्पर समाज में आधिपत्य के लिये संघर्ष था। दोनों एक दूसरे से आगे बढ़ जाना चाहते थे। यह वह समय था, जब वशिष्ठ और विश्वामित्र पद के लोग पीढ़ी दर पीढ़ी आपस में लड़ते रहे। बार बार क्षत्रिय आगे बढ़ना चाहते थे, पर ब्राह्मण उन्हें पीछे ठेल देते थे। इस समय मृत्यु से बात करने वाले नचिकेता गम्भीर रहस्यों की खोज में डोल रहे थे। किन्तु तपोवन में आर्यदल का ही बोलबाला था। अब आर्य पूरी तरह से जम चुके थे। ब्रह्म पर बहस करके जो विरोध में जाना चाहता था, उसका जीवन सदैव ही खतरे के बाहर नहीं रहता था। तप और ज्ञान के धुरंधर लोगों के सामने ही दासियाँ गाय भैंसों की भाँति बेची और खरीदी जाती थीं और शूद्रों की हालत बद से बदतर होती जा रही थी। समाज में अधिकांश लोग अधिकारहीन थे। उसी समय प्रवाहण जैबलि का चिंतन पुनर्जन्म को स्थापित कर गया। जैसे यूनान के दार्शनिक कभी प्रजातन्त्र का निर्माण सोचते थे, कभी कुछ, उसी प्रकार यहाँ भी हो रहा था। उसी समाज से क्या तात्पर्य था? क्या समाज वह था जहाँ अधिकारहीन

आर्यों का यह प्रयत्न केवल आर्यों के ही लिये था। आर्येतर अब शूद्र थे, उनको जन्मजन्मांतर तक सेवा करने का अधिकार दे दिया गया। लेकिन एक परिवर्त्तन हुआ। पहले यह था कि तुम शूद्र हो इसलिये सेवा करो। अब यह नहीं रहा। अब ब्राह्मणों को सब सांसारिक आराम मिलने लगे। उसकी महानता थी कि वह सबको छोड़ देने से भी नहीं हिचकिचाते थे। गाय, दक्षिणा, पितरों को सुख देने के लिये सन्तानोत्पत्ति को किसी की भी कन्या, सब था। परन्तु एक न्याय देने की भी तो आवश्यकता थी। अतः कहा गया:—तुम शूद्र हो इसलिये सेवा करते हो। पर तुम शूद्र क्यों हो? क्योंकि तुम शूद्र से पैदा हुए हो। आत्मा सब में है। वहा अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार बार-बार यहाँ जन्म लेता है। तो जो जैसे कर्म करता है वैसा ही फल पाता है। कौन जाने अगले जन्म में तुम ब्राह्मण बनो। जो व्यवस्था बाहर दीख रही है, उसे हाथ न लगाओ।

संतों ने कहा ठीक है। अगर यही बात है तो लो। हम इस कर्म जाल को ही तोड़ते हैं। और वे वनों में जाकर कर्मजाल तोड़ने लगे। इस प्रकार लौटकर उन्होंने समाज में कहा: कर्मजाल ही वास्तव में मनुष्य का बंधन है।

अब ब्राह्मण और शूद्र दोनों ही कर्मजाल तोड़ने लगे। क्षत्रिय और वैश्य भी जुट गये। अपने अपने धर्म का सबने और श्रद्धा से पालन किया। इसमें शूद्र और अधिक पिस गया। उसकी आत्मा भी अब दासता करने लगी। इस प्रकार आर्य संतों के संसार त्याग से समाज को यह लाभ हुआ।

शैव संतों के हमने तीन रूप देखे थे।

आर्य सामाजिक व्यवस्था में स्वीकृत, अद्वैत और ज्ञानमार्ग को योग के साथ लेकर चले। इन लोगों ने वेद को ही सर्वोपरि स्वीकृत कर लिया। वेद का अर्थ था वर्णाश्रम धर्म को स्वीकृत कर लेना। यह लोग

व्यक्तिमार्गी ही बने रहे। समाज में इनका यह प्रभाव पड़ा कि जीवन का एक सुख है, किन्तु वह बाह्य में नहीं है। जिस समाज का बाह्य त्यक्त हो, उसका बाह्य कभी संतुष्ट नहीं हो सकता। शैव तथा ब्रह्मवादी वास्तव में लोक दृष्टि से बहुत दूर नहीं थे। विश्वकल्याण की कामना इनमें कुछ अधिक थी। यह विश्वकल्याण की अनुभूति अंततोगत्वा समाज पर निष्परिणाम ही रही। ब्राह्मणों के अन्यमतों से थोड़ा-सा विभेद होगया।

इस मत में अग्निसंप्रदाय का रुद्र, धीरे-धीरे शिव में मिल गया। इस प्रकार शिव का जो प्रारंभ में ही एक वैदिक देवता से मिलन हुआ, शिव का विरोध अधिक नहीं रहा।

रागात्मक अवस्था को सब प्रकार से छूटा हुआ शिव का यह रूप धीरे धीरे एकांत की ओर खिचने लगा। प्रकृति की सृजन तथा संहार शक्ति ही मुख्य हो गई। तांडव की कल्पना का प्रकांड सौंदर्य सारे देवताओं को क्षुब्ध करने लगा। ब्राह्मण के गौरव को ठेस लगी। किन्तु तांडव महाध्वंस के बाद योगी शिव फिर समाधि में बैठ गये और उसके बाद हज़ारों लाखों वर्ष बीत गये परन्तु उनकी कल्प समाधि नहीं खुली।

स्पष्ट ही इस भावना में बदला लेने की भावना नहीं थी ब्राह्मण ने धीरे-धीरे इसे स्वीकार ही नही किया। शिव को उठा कर संस्कृत में रॅंगा और अपनी त्रिमूर्त्ति में रख लिया। विरोध कम होने लगा।

दूसरे वे थे जो आर्य सामाजिक व्यवस्था के बाहर थे। अद्वैतवादी योगमार्गी तथा जाति बंधनों के विरुद्ध थे। इनमें यहाँ की आर्येतर जातियों के विश्वास मुखरित हुए। जाति बंधन के विरुद्ध होने के कारण वास्तव में यह ब्राह्मण समाज के विद्वेषी रहे। इन्होंने शिव की कृपालु अवस्था को सबसे ऊपर रखा। कोई भी एक पत्थर का छोटे से छोटा टुकड़ा रख कर शिव की उपासना कर सकता था। सभी जातियाँ ऐक्य का अनुभव करती थी। परन्तु यह भी जातिबंधन को वास्तव में तोड़ नहीं सका। अधिकांश शिवोपासक जातियाँ नीची समझी जाती थीं। प्रारंभ में

प्राय: ही निम्न जातियाँ एक ओर यदि वार्णाश्रम जाति का रूप धारण करती थीं तो उनमें कुछ अश तक कबीला जाति के भी गुण थे। यह उनके टाटम के कारण हुआ। टाटम एक उपास्य है। कोई, वृक्ष अथवा जन्तु जब पवित्र मान लिया जाता है, और उसके अनुरूप ही जब जीवन व्यतीत होता है, वही टाटम है। निम्न जातियों के बहुत से टाटम कालांतर में उच्च जातियों तक आ गये हैं। इन टाटम के पीछे अंधविश्वास था, या कोई विशेष किंवदंती थी।

नीरस योग का अनथक श्रम समाज की वास्तविकता को भीतर ही भीतर घोट रहा था। सयम का फल सदैव ही सफल नहीं होता था, अधिकांश दिखावे के भड आगे आकर स्थान ग्रहण करते थे। यह लोग झुंड के झुंड बना कर साधु बने घूमा करते थे।

समाज शक्ति पाकर भी बदला नहीं

तीसरे यद्यपि द्वितीय पक्ष के निकट थे परन्तु उनमें स्त्री पूजा भी प्रचलित थी। यह भी प्राचीन धारा ही थी। इसका एक पक्ष यदि लिंग पूजा था, तो दूसरा पक्ष योनि पूजा। दोनों का अभी कोई समार्चान रूप उदय नहीं हो सका था, जो कालांतर में हुआ।

यह लोग सीधे श्मशान से नाता रखते थे। वहाँ जहाँ वासना इच्छा, काम, या तो जल चुके थे, या फिर उनका दहन आवश्यक था। दूसरी ओर हिमालय का नीरव निभृत था, जहाँ जीवन की गरिमा की महान् साधना हो रही थी।

अद्भुत शक्तियों में समाज की दिलचस्पी बढ़ चली। किन्तु समाज में ऊपर की हलचल सी हुई। एक ओर यदि ईशकृपा की पुकार उठी, तो दूसरी ओर भाग्य का प्राबल्य हुआ।

समाज का आदर्श शिव और पार्वती की विरोधी एकता में निहित हुआ।

शिव के इन दो संप्रदायों के कारण यह अवश्य हुआ कि जो ब्राह्मण धर्म विरोधी जातियाँ थीं वे धीरे-धीरे एक मोर्चा सा बनाने लगीं। इनमें

से कालांतर में काफी लोग ब्राह्मणों की व्यवस्था को मान गये, पर अधिकांश हमेशा अपने रूप ब्राह्मणविरोधी संप्रदायों में ही बदलते रहे और अत तक ब्राह्मणों के साथ नहीं आये। यह विषय वास्तव में बहुत लंबा है और भारतीय इतिहास का एक पूरा अध्याय है।

पौराणिक संतों में भक्ति का बीज फूटा था। विष्णु की उपासना कैसे प्रारम्भ हुई, यदि इसको खोज निकाला जाये तो इसके मूल का पता लग सकता है। जो हो, भागवत संप्रदाय ही इसका फैला हुआ रूप था। आभीरों का प्रेम ही इसका कारण बताया जाता है। आभीर एक कबीला जाति थी, जो अब कालांतर में एक वर्णाश्रम जाति हो गई है। अभी भी इसमें विवाह आदि की कबीला जातीय परम्पराए शेष हैं।

ईश्वर अभी तक बहुत दूर था। वह यज्ञों कर्मकाण्ड की उलझी हुई साधनाओं तथा ऐसे ही अन्य मार्गों के कारण काफ़ी उलझा हुआ सा था। अब ईश्वर को ही चरम माना गया। उसका विष्णु रूप सामने त्राणकर्त्ता आ गया। मनुष्य को धनुष हाथ में लिए एक त्राणकर्ता दिखाई दिया। इसकी मनुष्य जैसी कहानियाँ थीं। इसने बार बार पृथ्वी पर वेद, गौ, और ब्राह्मण की रक्षा के लिये अवतार लिया था। इसको समाज में नियम और धर्म की चिंतना थी।

ईश्वर से सीधा संबंध हो गया। अब उससे मानुषी व्यवहार प्रचलित हुआ। बातें होने लगीं।

समाज को शक्ति मिली। उठते, बैठते, चलते, सोते, उसका वह वाराह रूप दिखाई देने लगा जो एक दाँत पर पृथ्वी को प्रलय में से उबार लाया था। उस समय असुरों का प्रहार अत्यंत भीषण हो उठा था। कर्मकांड भी चलते रहे। साथ में यह रूप भी बढ़ चला। और परिणाम स्वरूप मनुष्य नियतिवादी हो गया। कृष्ण ने जहाँ जहाँ, भगवान के लिये 'मैं' का प्रयोग किया था, उसे पढ़ते समय प्रत्येक पाठक का 'मैं' वहाँ लग सकता था, परन्तु इतनी हिम्मत नहीं पड़ी। ईश्वर रक्षक हो गया। वर्णा-

म, ईश्वर, भाग्य था ही अब एक और बात हो गई। अब जन समाज ने अहंकार छोड़ने के साथ आत्मविश्वास भी खोना प्रारम्भ किया। जब जब भीर पड़ेगी तब वह स्वयं आ जायेगा। हम क्या करते हैं ? जो करता है, वही करता है। उसके किये बिना कुछ भी नहीं हो सकता।

यह चरम आश्रय की प्रवृत्ति जो व्यक्ति में आत्मविश्वास भरना चाहती थी, व्यक्ति पक्ष के स्वार्थ पर समाज पक्ष को लाना चाहती थी, साधनों के अभाव में उल्टा असर डालने लगी।

षटदर्शन के समस्त चिंतन ने वर्णाश्रम का विरोध नहीं किया। वह तो एक आधार था ही, जैसे उसके बिना समस्त आर्य चिंतन पनप ही नहीं सकता था। हाँ ईश्वर के विषय में कोई चुप था, कोई उस पर कम ज़ोर देता था। परन्तु इससे क्या हुआ, समाज में जो हो रहा था वह बराबर चलता रहा। सवाल उठा भी तो यह कि नाक सीधे से पकड़ी जाये, या, सिर के चारों ओर हाथ का लपेटा देकर उसे पकड़ा जाये ? यह समस्त विवाद अब अधिकांश व्याकरण की ओर अग्रसर हो गया था।

सांख्य ने अवश्य ईश्वर को असिद्ध कर दिया। अभी तक जो निर्वि-वाद चला आता था, उसकी जगह प्रकृति और पुरुष ने ले ली। किन्तु वेद से फिर भी कुछ नहीं गया। न दास प्रथा पर प्रहार हुआ, न स्त्री के स्वातंत्र्य पर कोई प्रकाश डाला गया। कर्मकांड की जगह ज्ञानकांड को प्रधा-नता दी गई। उधर राजन्यवर्ग को कुछ भी परिवर्तन नहीं झेलना पड़ा। समाज जैसा था, वैसा ही बना रहा। आर्येतर शैव सिद्धान्तों की कुछ काया अवश्य सांख्य में योग की प्रधानता के सहारे बलवती हो उठी।

विभिन्न जातियों के विश्वास आर्यों पर अपना प्रभाव अधिक डालने का प्रयत्न करते जा रहे थे। सांख्य ने इसे समझा। उनकी भावनाओं को कुछ सीमा तक अपने भीतर सहेज लेने का प्रयत्न किया।

अलग अलग जन्म लेने, तथा मरने वाले पुरुष अलग-अलग मरण और जन्म को प्राप्त होते हैं। कारणों में भी भेद होता है; कोई अं

कोई लूला, लँगड़ा होता है। गुणों के भेद से ही पुरुष का अनेक होना सिद्ध होता है। पुरुष बुद्धि का दृष्टा होता है। वह बुद्धि का आकार ही अपना भी समझ लेता है। वास्तव में वह उसकी अवस्थाएँ नहीं होतीं। बुद्धि की होती हैं। बुद्धि प्रकृति का रूपान्तर मात्र है।

वैराग्य होने पर कैवल्य होता है। जहाँ वैराग्य ही चरम लक्ष्य है वहाँ समाज का अंतिम प्रश्न सबसे पहले त्याज्य होता है।

प्रश्न है कि ब्राह्मणवाद ने सांख्य की निंदा क्यों नहीं की ? उसका अन्यों की भाँति तीव्र विरोध क्यों नहीं किया गया ? निस्संदेह ब्राह्मण प्रारंभ में चौंका अवश्य था।

सांख्य का विद्रोह किसके विरुद्ध था ! जब हम विद्रोह की बात कहते हैं तब यह स्पष्ट भाव रहता है कि एक को हटा कर दूसरा आना चाहता था। ठीक है। सांख्य ने यही किया। उसने वेद को नहीं हटाया। ईश्वर को हटाने की चेष्टा की। लेकिन ईश्वर था कहाँ ? वह हटा भी तो इतने गौण रूप से कि उसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। यदि बंध हेतु निषिद्ध कर्म नहीं था, न अज्ञान था, तो यह मात्र अविवेक था। यह कोई बहुत दूर का फ़ासला नहीं था। बंध भी आध्यात्मा त्रिविध दुःख थे। मोक्ष केवल त्रिविध दुःखों का ध्वंस था।

इन दुःखों का कारण अविवेक था। जन समाज तो सदा ही इसी में ग्रस्त रहा है। फिर वह अपने बहु दुःख कैसे काट सकता था ? जिस योग की आवश्यकता थी, वह मात्र जादू टोना नहीं था, उसमें राजयोग की आवश्यकता थी। अतः अविवेकी अविवेक में ही फँसा रह गया।

क्षत्रियों को एक राह मिली। उन्होंने अपने अविवेक मिटाने का चिंतन तीव्रता से प्रारंभ कर दिया।

वैसे सांख्य योगी संसार से अलग रहते थे। तप और योग करते थे। वहीं से शिक्षा देते थे। यह भी व्यक्तिपक्ष ही था।

इसीसे तो कहा है कि न साक्षात् कोई बद्ध होता है, न कोई छूटता।

है, न कोई जन्मांतर में घूमता है। प्रकृति ही नाना (देव, मनुष्य, पशु, खग, कीट आदि शरीरों में) आश्रय पाती हुई, बँधती और छूटती है।

प्रकृति का यह घूमना याद रखना आवश्यक है। बौद्धों के परलोक के क्रिया व्यवहार संघट्ट की यही पृष्ठभूमि है।

इस प्रकार समस्त प्रकृति बँध गई। बँधी कि जनसमाज को मुक्ति का केवल व्यक्ति पथ शेष रह गया। सब कार्य वपाक मे बँधे हुए थे।

भिक्षु परंपरा ने सहस्रों वर्षों की एकरसता पर भीषण प्रहार किया। अभी तक मनुष्य सदियों से आँख मूँदे लकीर का फ़कीर बना चला आता था। पहले यहाँ अनेक जातियों के परस्पर संघर्ष हुए थे। अंततोगत्वा ब्राह्मणधर्म ही आर्यों में सर्वश्रेष्ठ स्वीकृत हुआ। उसीके आधार पर समाज भी निर्णीत हुआ। सांख्य से बुद्ध को सहायता मिली। स्थविर युवक हुआ। जो नित्य था, वह अनित्य हो गया।

यह दुःखी, जो संसार था वह गौतम को कचोट उठा। उन्होंने सोचा। और सोचकर बुद्धत्व प्राप्त किया। तप और योग की विभीषिकाओं को उन्होंने व्यर्थ कह दिया। मध्यम मार्ग निकाला। तत्कालीन समाज को इससे शक्ति मिली। ब्राह्मण को उन्होंने झूठा साबित कर दिया। ब्राह्मण का क्या है? जो चाहता है कहता है। उसे इस पृथ्वी पर देवता किसने बनाया?

क्षत्रियों और वैश्यों ने सुर में सुर मिलाया। इनके पास साधन थे, पर राह नहीं थी। बुद्ध ने एक आधार दिया। उनकी राह खुल गई और वे उस पर चल पड़े।

सामाजिक पक्ष में बुद्ध ने एक अद्भुत् क्रान्ति की। दास, खेतों पर विवशता से बँधे हुए, बिना कारण सामंतों की यशोलिप्सा में आहुति दिये जाने वाले सैनिक और धनिय के भीषण ऋणों से ग्रस्त व्यक्तियों को राह दिखाई दी। वे आगे आये। पर उन्हें निराश लौटना पड़ा। यह गणों का स्वातंत्र्य दर्शन था। अतः गण के संचालकों की स्वतंत्रता, शोषित

जनता की स्वतंत्रता नहीं हो सकी। क्षत्रिय बहुत दिन से ब्राह्मण से लड़ते रहे थे। अभी तक उन्हें बाहर निकलने का पथ नहीं मिला था। अब वे निकल चले। किंतु जन्म, वर्ण के आधारों पर अभी तक कोई भी वास्तविक प्रहार नहीं हुआ था। केवल क्षत्रिय ने जो अभी तक व्यर्थ परिश्रम किया था, उसे छोड़ दिया। वेद ब्राह्मण की संपत्ति थी। उस पर किसी भी भाँति अधिकार नहीं हो सका था। क्षणिकवाद में सामंत ठहर सकता था, क्योंकि राज्य तो बदल सकते हैं। परंतु ब्राह्मण का ठहरना कठिन था। उसके तो आधार सनातन के बल पर खड़े थे। जब सब बदल रहा है तो वह न्याय किसका देता? वह स्वयं बदल रहा था।

स्त्री के विरुद्ध उठा हुआ स्वर क्या बुद्ध की अपनी आवाज़ थी? स्त्री को क्या उनसे पहले के ब्राह्मण संसार-जाल से छूटने के लिये त्याज्य ही नहीं समझते थे? स्त्री को बुद्ध ने भी कमअक्ल माना' और मनु जो कह गये थे, उसे तो उन्होंने बिल्कुल ही नहीं छुआ। वही अवस्था बदस्तूर बनी रही। पिता, पति और पुत्र के अधिकार में स्त्री बराबर बँधी हुई रही।

ज्ञान को बढ़ाने का पथ क्या था? बुद्ध ने जिस बात पर अधिक जोर दिया उसकी शक्ति क्या थी? पुस्तकें। मात्र पुस्तकें। वैज्ञानिक अनुसंधान नहीं था। बुद्ध ने सृष्टिक्रम पर जो कथा कही है वह ब्राह्मणकथा भले ही न हो, पर उसमें कोई आधारभूत चिंतन का भेद नहीं है। इसीसे चिंतन भी ठोस आधार खोजने लगा।

साम्राज्य ने गणों को नष्ट कर दिया। अब बौद्ध जिस क्षणिकवाद और शून्य को लिये बैठे थे वे डगमगा उठे। अनात्म को शून्यतो और प्रिय हो गया, पर क्षणिकवाद अपना शाश्वत बाह्याधार ढूँढ़ने लगा। उसी समय अहिंसा का पक्ष लेकर अशोक ने बुद्धमत का सहारा पकड़ा। मत तो फैल गया, पर उसकी कठोर चर्या लड़खड़ा रही थी। कुछ वर्षों के लिये रक्त से भींगी धरा पर शान्ति छा गई। सामंतों के उठे हुए खड्ग झुक

गये। और इसका परिणाम हुआ कि अपने को रक्षित करने की शक्ति विहारों में जा घुसी और जब विदेशियों के प्रचंड आघात हुए, वे मुंडी झट से उसे धर्म में ले लेने को ब्राह्मणों से आगे बढ़ने लगे। ब्राह्मण भी सचेत था। होड़ बढ़ चली। ब्राह्मण इस देश को सबसे अधिक अपना समझता था, क्योंकि उसके पास सबसे अधिक अधिकार थे।

बौद्धों के विहारों में जनता का धन इकट्ठा हो चुका था। लोग चाहते थे कि शून्य से हट कर कुछ और मिले। अगर बौद्ध उनकी बात टालते तो पाँसा पलट जाता। उत्तर से मंत्र तंत्र पश्चिम और पूर्व से आये। विहार के दूसरे द्वार से स्त्री भी घुस आई। बस जनता को मिल गया। चट मँगनी, पट ब्याह वाला सिद्धांत मिल गया। अब परलोक लौट आया, स्त्री भी आगई, शून्य के स्थान पर संभोग सुख हो गया, और ईश्वर के स्थान पर बुद्ध की मूर्त्तियां हो गईं। जन समुदाय के लिये ब्राह्मण विद्वेष के अतिरिक्त बौद्धमत में कोई भेद नहीं रहा। अहिंसा का नाम चलता रहा, पर खूब मांस पकने लगा।

इन बौद्धों ने राजनीति पर हावी होकर अपना काम निकाला। देशीय वदेशीय का भेद नहीं माना, यह भी इनके स्वरूप को खो देने का कारण गनाया जाता है।

ब्राह्मणों को भिक्षा उधर और लोग देते थे इधर विहार और भिक्षु पलते थे। जन समाज के लिये जहाँ शासक का प्रश्न था, जैसा ब्राह्मण वैसा बौद्ध। कुछ धार्मिक स्वतंत्रता का भेद अवश्य रहता था। वैसे कोई फ़र्क नहीं था। जादू टोने ने घर कर लिया।

इन बौद्धों पर ब्राह्मणों की उच्चता ऐसी जम गई थी कि इनके बोधिसत्व भी उच्चकुलों में जन्म लेने लगे। कहानी जहाँ से शुरू हुई थी, अब वह वहाँ नहीं थी, उसे यह भी याद नहीं रहा था कि वह कहाँ थी, क्या थी। अब पृथ्वी पर मनुष्यों की भाँति बातें करने वाला गौतम श्रमण,

पृथ्वी पर नहीं था । वह ब्राह्मण देवताओं की भाँति पृथ्वी पर मात्र अवतार लेता था ।

जैन श्रावक बुद्धमत के समानांतर ही चले । जैन मतके अधिक अनुयायी वैश्य हुए। ये लोग अहिंसा को फ़ौरन मान गये। ब्राह्मण के सामने शोषित थे, और जन-समाज के सामने धन सुरक्षित हो गया। इस प्रकार धन का न्याय हो जाना उन्हें परम स्वीकार्य था। अधिक मिले थे खोये न थे ।

ब्राह्मण का विरोध किया गया और जिस प्रकार ब्राह्मण ने जैन को तिरस्कार से नास्तिक कहा, जैनों ने ब्राह्मणों को पाखंडी कहा। इनमें लड़ाइयाँ होने लगी। सांख्य ने जब ईश्वर पर मौन साधा था तब ब्राह्मण नहीं चिढ़ा था। जैनों से चिढ़ गया क्योंकि यह वेद को भी झूठ मानते थे। परंतु गणों में धनो भी मान्य थे। जैन धर्म को नक्षत्रों से सहायता मिली ।

किंतु यह दार्शनिक स्वर की बात थी। जन-समाज में कोई अधिक परिवर्तन नहीं आये। न सामाजिक नियम बदले। वह कैसे हो सकता था? कर्म का परिणाम आवश्यक था। जो जैसा करेगा, वैसा ही पायेगा। पहले यह था कि यह ईश्वर की कृपा से होता था। अब इतना भेद हो गया कि ईश्वर तो चुप हो गया, पर पुनर्जन्म की परंपरा अखंड चलती रही। इससे भाग्यवाद प्रचण्ड हो उठा। और नियतिवाद के इस प्रभुत्व ने व्यापारियों को और भी ऊपर उठाया।

सामंतों से खूब धन मिलने लगा। फायदेमन्द बात साबित हुई। 'निरालम्ब गगनारोहिणी' संज्ञा से ज्ञात जैन धर्म, जिसके तर्कों से ब्राह्मण-वाद काँप उठा था, अब धीरे धीरे मूर्ति पूजा की ओर अग्रसर हुआ। तीर्थंकर की मूर्तियां बनने लगीं। और उनके मंदिर बन गये। जन समाज के सामने विशेष क्या फ़र्क पड़ा। जो दुःखी था, वह अभी तक दुःखी था, जो गरीब था, वह अभी तक गरीब था। कहीं बाहर निकलने

की अभी तक राह नहीं थी। यह देह घृणित थी। जीवन नीरस, कठोर तप से आक्रांत होकर छटपटाने लगा। आत्मा के आवरणों को छेद कर निकलने के लिये कहीं से भी ठौर नहीं थी। यह था समाज, यह थे बंधन, पर वहाँ कहीं परलोक था। इस पृथ्वी पर तो कहीं भी सुख नहीं था।

जीवदया की प्रचंड वाह्याचार भावभंगिमा नाक पर कपड़ा बाँध चुकी थी। कपड़ों में पानी छान-छान कर पी रही थी। पर दास अभी तक दास ही बने हुए थे।

अहिंसा का रूप अब बदल चला। धर्म के लिये तलवार उठी। नाम धर्म का था, या सामंतीय अधिकारों की रक्षा का यत्न। जैसे ब्राह्मण न्याय देता था, अब जैन श्रमण देने लगे। धर्म के लिये हत्या भी नहीं रही।

इधर ब्राह्मण ने जन-समाज को जैनों के विरुद्ध करने के लिये एक चाल चली। इन्हें चारवाक के अनुयायी लोकायतों के साथ गिना दिया। वे भौतिकवादी थे। जैन अपने को अधिक से अधिक दूर साबित करने के प्रयत्न में पहले से भी अधिक अभौतिकवादी हो गये।

परस्पर की ईर्ष्या बढ़ चली। ब्राह्मण पुराणों की ही भाँति जैन पुराण बनने लगे। उनमें अवतारवाद के समानांतर तीर्थंकरों का वर्णन होने लगा जिसको पढ़ कर आश्चर्य होता है। झूठ के क्षेत्र में जैन भी कम नहीं रहे। फिर सिद्धि का चमत्कार उन्हें रसायनों की ओर खींच ले चला। वे बह चले। वर्णाश्रम से कभी विरोध उग्र होने के कारण जैन शनैः शनैः ब्राह्मण से अपना भेद भूलने लगे। वे सामंतों के गुण गाने लगे। जन समाज को कड़ी फटकारें लगने लगीं कि वह अस्त-व्यस्त जीवन व्यतीत करता है, अपने धर्म को अर्थात् सामंतों और धन कुबेरों की सेवा ठीक से नहीं करता, तभी पाप का फल भोगने उसे जन्मांतर

तक दुःख भोगना पड़ता है। जन-समाज और भी अधिक श्रद्धा से काम करने लगा।

इस प्रकार हमने देखा कि उच्च वर्णों ने जो अपनी स्वतंत्रता के लिये संघर्ष किये वे उसमें सफल हो गए। शूद्रों का कोई सवाल ही नहीं था। बौद्धमत में था, पर वह हार चुका था।

जैन धीरे-धीरे समाज की वर्णव्यवस्था में ऐसे सिमट गये कि आज केवल वैश्यों में ही उनका धर्म पल रहा है। यह वैश्य किसी भी अवस्था में अब ब्राह्मण विद्वेष नहीं करते। आज वे अपने धर्मग्रंथों को बिल्कुल भूल चुके हैं। यह परंपरा तब से चल पड़ी जब से दक्षिण में ब्राह्मणधर्म का प्रबल पुनुरुत्थान प्रारंभ हुआ।

जहाँ एक ओर यह अभौतिकवाद था, वहीं इसी धरती पर दूसरी ओर लोकायत दृश्य नितांत अद्‌भुत है। कहाँ संसार छोड़ा जा रहा था कहाँ उसी में लिप्त होना प्रारंभ हुआ। समाज ने तुरत इसे अपना लिया। हाँ, ठीक है, वेद, ईश्वर, परलोक सब झूठ है। हमारे ऊपर व्यर्थ के भूत लाद दिये गये हैं। वास्तव में है कुछ भी नहीं। आनंद के उत्सव होने लगे। उच्च समाज ने इसका घोर विरोध किया, इस विचारधारा ने सब के लिये खतरा पैदा कर दिया था। सागल (स्यालकोट) से मथुरा, तथा मथुरा से पाटलिपुत्र तक यही धारा बह उठी। स्त्री भी खुल गई, पुरुष भी खुल गया। विलास होने लगा। धर्म का आडंबर पीछे चला गया।

सुख की यह कामना अपने पीछे कोई ज्ञान परंपरा नहीं रखती थी। शारीरिक सुख की यह कल्पना स्वयं एक अति पर प्रारंभ हुई और इसका उसी रूप में नष्ट हो जाना भी आवश्यक था। एक भयानक बोझ ने दाब रखा था। उसके दाब को आदमी सहता रहा, सहता रहा। एक वक्त आया जब उसने उस बोझ को उतार कर दूर फेंक देना चाहा।

पर प्रश्न है कि इस विद्रोह का आधार क्या समाज में भी उतना ही गहरा उतर सका ?

समाज का ऊँच नीच कैसे बदल सकता था ? ऋण करके घृत पीने वाले ने अपने चिंतन की गहरी दयनीयता दिखाई है। अर्थात् समाज तो ऐसा ही रहेगा जिसमें धनी और दरिद्र बने रहेंगे। जिसमें शक्ति होगी वही जीतेगा। अभी तक तो धनी अपने लिये कभी पुनर्जन्म का बहाना खोजता है, कभी धर्म का नाम लेता है। अगर जान से भी अपने विरोधी को मारता है तो एक बहाना पहले खड़ा कर लेता है। अब इस लोकायत परंपरा में तो वह सीधे-सीधे कहेगा, मुझे इसीमें सुख मिलता है। मैं तो यही करूँगा।

यही कारण था कि लोकायत संप्रदाय समाज में नहीं चल पाया। उसने किसी व्यवस्था की आवश्यकता ही नहीं समझी। श्राद्ध मत करो। ठीक है। पर क्या करो, यह वह नहीं बता पाया। दास फिर भी दास ही था। वह भी किसी के सुख का साधन था।

दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि लोकायत संप्रदाय जीवन के किसी भी विश्वास को ग्रहण नहीं कर सका था। उसने मनुष्य की ज्ञानलिप्सा को भी ठोकर मार दी थी। इसे मनुष्य कैसे भी स्वीकार नहीं कर सकता था। तर्क तब तक ठीक है जब तक एक के बनाये रिक्त को दूसरा ग्रहण कर सके, अन्यथा वह सदैव ही रिक्त बन कर नहीं रह सकता।

आनंद की इस उच्छृंखल परिकल्पना ने समस्त बंधन तोड़े; किंतु आधारभूत क्या स्त्री को इसमें उपभोग की ही वस्तु नहीं समझा गया। यह सच है कि विलास में स्त्री के बंधन भी टूटते हैं उसे भी आनंद मिलता है; किंतु क्या उसके सामाजिक अधिकार भी बदल जाते हैं ? या वह केवल पुरुष की वासना को तृप्त करने के लिये ही रह जाती है ?

जो हो, ब्राह्मण धर्म लड़-खड़ा गया। समझौते की बातचीत होने लगी। चार्वाक को महान् स्वीकार कर लिया गया। ब्राह्मण धर्म का

यही चातुर्य था। वेदनाशक राक्षस भी पूज्य हो गया। विवाह, समाज के उत्पादन, जातियाँ, आधाररूप में वहीं के वहीं बने रहे। केवल कुछ लोगों ने वेदों, ईश्वर तथा धर्म को सिर नहीं झुकाया। मद्यपान खुले आम होने लगा। पर वह भी एक चिढ़ाने की गरज़ से।

निम्न जातियों को, जब पुनर्जन्म का फंदा छूटा, तो दूसरे ही सपने आने लगे। फिर किस दिन के लिये यह जीवन भी इसी हीनता में व्यतीत कर दिया जाये, यह प्रश्न उठने लगा। वर्णाश्रम व्यवस्था टूटने का भय दिखाने लगी। किंतु परलोक का भ्रम चारों ओर छाया हुआ था। बौद्ध, जैन सब सतर्क थे। उनके सम्मिलित रूप से सचेष्ट प्रयत्न अलग अलग क्षेत्रों में होने लगे।

लोकायत दर्शन खंड-खंड होकर वह निकला। यदि उसका भौतिक वाद गतिशील होता तो संभवतः वह इस टक्कर को झेल जाता, पर उसके अभाव के कारण वह जीवित नहीं रह सका। उच्चवर्गों की परलोक माया ने विजय पाई।

पाशुपत संतों के विषय में वही कहना ठीक होगा जो शैवों के विषय में कहा गया। इनके ऊपर तीन विभाग बताये गये हैं। ब्राह्मण विरोध करके भी वस्तुतः यह उनकी बनाई सामाजिक परिपाटी को नहीं बदल पाये! ब्राह्मणधर्म एक दर्शन मात्र ही न था, वह सामंत व्यवस्था थी। दिन प्रतिदिन के जीवन का नियम था। पाशुपत जाति बंधन तोड़ने में कुछ सीमा तक सफल हुए। किंतु आर्थिक व्यवस्था वे भी नहीं बदल सके और वह वैसी ही बनी रही।

अघोर का सामाजिक रूप नितांत भयकारी था। श्मशान में रहना, उलटी-सीधी बात कहना, संसार को जलते घर के समान छोड़ जाना, लोगों में जीवन की आस्था के प्रति निराशा पैदा करने लगा। जो उस जीवन में न थे, वे अपने को बाँधा हुआ, गिरा हुआ, समझने लगे। अभी तक जो दर्शन के क्षेत्र का, या भक्ति तथा ज्ञान के क्षेत्र का बंधन था,

अब उस पर एक डर छागया । वे त्रिकालदर्शी संत बैठे-बैठे मुर्दे खा लेते थे, हड्डी को फूल कह कर खेला करते थे । वे जाति बंधन तोड़ चुके थे, यह कहना व्यर्थ होगा । वे समाज का कौन सा बंधन नहीं तोड़ चुके थे । उनसे समाज पर क्या प्रभाव पड़ सकता था । हाँ, समाज ने सिर झुकाना अधिक सीख लिया ।

कौल साधकों की विलास भावना ने जाति बंधन को तोड़ना प्रारंभ किया । प्रारंभ में यह वेद के बहुत विरोधी रहे । पर बाद में वेद वाले भी इसमें आ घुसे । कालांतर में यही कौल आगे चलकर अपने को वेद संमत प्रकट करने की चेष्टा करने लगे । अब मद्य, मांस, मुद्रा, मीन तथा मैथुन की छूट मिली । पर इसका कोई सामूहिक प्रदर्शन नहीं था । समाज में बहुतों ने इसे-दुहराया । पर जिस निरासक्ति की उच्चावस्था की प्रशंसा की गई थी, वह कहाँ थी ? समाज में कब तक मनुष्य कह सकता था कि स्त्री सब एक हैं । स्त्री होनी चाहिये । माता हो या भगिनी । यह विचार इतना घृणा उत्पन्न करने वाला था कि अधिकांश जन समाज ने इसे खुलकर अपनाया ही नहीं । यह संप्रदाय छिप छिप कर ही प्रारंभ हुआ था । छिप छिप कर ही अंत में लुप्त हो गया । अपने समय में अवश्य इसने हलचल मचा दी थी ।

चीनाचार में अनेक भेद हैं । यहाँ जाति भेद नहीं, पर संपत्ति भेद अवश्य था । यदि उसे भी छोड़ दिया जाये तब भी उनकी विचारधारा का आधार यह संसार नहीं, दूसरा ही संसार था । स्त्री के गुप्तांगों के नित्य दर्शन से प्रसन्न रहने वाले यह आचारी लोग अपने को गुप्त रखने के शौक़ीन थे । दूसरे, स्त्री को यह अत्यंत सहेजकर रखने वाले लोग थे । इनकी साधना में पुरुष पक्ष का दृष्टिकोण था । स्त्री की मुक्ति क्या थी यह वह स्वयं नहीं जानती थी । बहुधा इनका जाति बंधन स्त्री के विषय में ही टूटता था । नीचतम जाति की स्त्री भी उच्चतम मानी गई थी ।

केवल उपासना क्षेत्र में ही यह जाति बंधन का विरोध हो सका। या तो भैरवी चक्र में, या कौल साधना में। वैसे हिम्मत ही नहीं पड़ती थी। जो बाहर करता था, वह नीच् कहलाता था। ब्राह्मण उसका दर्जा फ़ौरन नीचे गिरा देता था। उसके सामने कुछ भी नहीं चलती थी। जाति का ठेका जिसके हाथ में था उसकी सामर्थ्य इन बातचीतों से कहीं अधिक थी।

यदि सम्मिश्रण का फल एक ओर क्षणिकवादी भौतिकवाद था तो दूसरी ओर अनात्म अभौतिकवाद। एक अजीब सी खिचड़ी थी जिसका कोई अंत दिखाई नहीं देता। बहुत सी विचार-धाराएँ, मत-संप्रदाय, देवी-देवताओं के उपासक अब धीरे-धीरे ब्राह्मण विरोध में एकत्र होने लगे थे। इसमें बौद्ध और शैव, यही दो रगमंच थे, जिन पर इन्हें उतरने को विवश होना पड़ा। इससे आपस में बहुत सी बातें मिल गईं। यहाँ तक कि बौद्धों में भी कापालिक हुए, शैवों में भी। पर रागातीत, समाज से दूर रहने वाले यह लोग समाज पर यही प्रभाव डाल सके कि हम तुमसे ऊँचे हैं। तुम घिरे हुए हो, हम आज़ाद हैं। इन्होंने अपने को ब्राह्मण से भी ऊँचा करार दिया और इस प्रकार अपने को पंचमवर्ग कहा। और इस प्रकार और वर्ग बढ़ाने का ही दंभ दिखलाया।

ब्राह्मणधर्म का पुनरुत्थान कोई आकस्मिक घटना नहीं थी।

चाणक्य से हर्ष तक क्षत्रिय और ब्राह्मण परस्पर सत्ता ग्रहण करने के लिये न केवल जैन, बौद्ध, वेद के रूप में लड़ते रहे थे, वरन् सशस्त्र सामंतीय युद्ध हुए थे। लगभग हज़ार वर्ष के इस युद्ध ने जन समाज को सामंतों से पूर्णतया ऊबा दिया। ऊपर हम उन उलझनों का ज़िक्र कर चुके हैं जिनमें लोग रम गये थे। राज का कोई महत्त्व नहीं रहा था। यह खेल अभी तक चल: था क्योंकि बाहर से बहुत सी जातियाँ हमला करती थीं, सामंत उनसे रक्षा करते थे। अब बहुत दिन के लिये वे हमले बंद हो गये। अब अंदरूनी संघर्ष चलने लगा।

निम्न जातियों का उत्थान होने लगा। जातीय संघर्ष कम होते ही वर्णाश्रम जातियों ने फिर से अपनी हीनता और अभाव का अनुभव किया। उस समय शंकर ने ब्राह्मण धर्म का प्रतिनिधि बन कर सतोष को शिक्षा दी। जो भाग्य से मिले उसी को स्वीकार कर लो। इसके अतिरिक्त इस दुनिया को बदलना व्यर्थ है क्योंकि यह जो कुछ दीख रहा है इसे व्यर्थ महत्त्व मत दो।

शंकर के इस सिद्धांत से जन समाज का दृष्टिकोण अपनी असली दुख भरी परिस्थिति से हट गया। वह भी आकाश की ओर देखने लगा। बौद्धों का विरोध अब अपने असली दार्शनिक रूप को छोड़ चुका था। शंकर ने बौद्धों पर प्रबल आघात किया। शंकर में हमें तीन बातें मिलती हैं। एक तो बौद्धों का क्षणिकवाद माया के आवरण रूप में आगया। दूसरे परमात्मा अर्थात् ब्रह्म अपनी पूर्णावस्था में प्रायः शून्य ही था। जो कुछ था वह मात्र दीख रहा था। वह वास्तविक नहीं था। परन्तु यही शायद ब्राह्मण और उच्च वर्गों पर लागू नहीं था। वे जिस परिस्थिति में थे, उसमें भी माया थी, पर समाज की तुलनात्मक अवस्था में वे शासक थे और शासक के लिये भूमि तैयार कर दी गई। शासकों ने इसीलिये शंकर का जयजयकार किया।

परन्तु बीच में ईश्वर था। उसके लिये सांसारिक सत्यों का नाम चला। यह बौद्धों का सीधा प्रभाव था।

फिर से वर्णाश्रम धर्म को प्रतिष्ठापित किया जाने लगा। वेद ही सर्वोपरि था। उसके ऊपर किसी को भी नहीं माना जा सकता था। शंकर ने बौद्धों का इसी लिये विरोध किया।

तीसरे शैवाद्वैत उपनिषद की सहायता से सब के ऊपर छा गया।

शंकर के सिद्धांत के मूल में सामंतवाद से एक घृणा थी। तुम सामंतो! मूर्खों की भाँति परस्पर लड़ते हो। सेनाएँ चलती हैं, बुद्धि

चातुर्य्य दिखाये जाते हैं, किंतु काल सबको आकर खा जाता है। किस लिये ? क्या लाभ होता है ?

किंतु इसका फ़ायदा उन्होंने उठाया जो समाज के शासक थे। उन्हें यह कहने का अधिकार मिला कि 'मूर्खो ! जो हमारे पास है, वह तो कुछ भी नहीं है।' मध्य की कड़ी छोड़ने से समस्त वैदिक कर्म-कांड ही घुस पड़ा। शंकर ने बहुत सी प्राचीन आर्य्येतर परंपराओं को छोड़ने का प्रयत्न किया। रामानुज उन्हें फिर खींच लाये।

उस समय ब्राह्मण का अभिमान अखंड हो गया था। अछूत दूर से चिल्लाता था—वेदम् कट्टवन्, वेदम कट्टवन् (वेद से भ्रष्ट, वेद से भ्रष्ट) और ब्राह्मण यदि पथ से नहीं हटता था तो मजाल थी कि शूद्र उस पथ से निकल जाये ? भले ही उसकी मां क्यों न घर पर दम तोड़ रही हो। पर उसे तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ती थी जब तक ब्राह्मण स्वयं न हट जाये।

शंकर ने कहा—मत देखो। इस समाज को मत देखो। इसे तुम अपना चरम उद्देश्य मत समझो। यह जो कुछ हो रहा है, यह कोई सचाई नहीं, है वास्तविकता नहीं है।

वास्तविकता सबसे परे है। दूर। वह जो केवल ज्ञान से मिलती है। वह जब अविवेक दूर होता है। केवल अनुभूति के इस चरमोद्देश्य से आत्मा विक्षुब्ध हो चली। ब्रह्म दूर था। उसका फिर मनुष्य से कोई संबंध नहीं था। उससे मिलने के लिये हो रह कर कहना पड़ता था कि हम नहीं रहे। खाकर कहना पड़ता था, हमने नहीं खाया। समाज के विषय में यह धारणा इसी रूप में चली। इससे लड़ो मत।

इससे मुक्त होने का पथ ढूँढ़ो।

शंकर ने कहा—'उसके' दृष्टि-कोण से देखो। यह एक भीषण भ्रम जाल मात्र है और कुछ नहीं।

भक्ति संप्रदाय ने समाज को निस्संदेह आगे बढ़ाया। पुराने भागवत संप्रदाय में अब और तीव्र प्रेम की ध्वनि आने लगी। आर्य्येतर उपासना पद्धति भी स्वीकार कर ली गई। ईश्वर अब मनुष्य के बहुत निकट आ गया। उससे सख्य, दास्य, और अनेक प्रकार का संबंध हो गया।

अब ईश्वर के सामने मनुष्य मनुष्य समान हो गये। यह समानता एक बहुत बड़ी चीज़ थी। अभी तक ईश्वर के सामने भी मनुष्य मनुष्य में भेद था। अब की बार शूद्रों को कुछ अधिकार दिये गये। निर्गुण का चक्कर छोड़ा गया। अवश्य दार्शनिक पक्ष में ब्रह्म को सर्वोपरि माना गया। पर उसकी लीला को मनुष्य ने मानवीय भावनाओं के बहुत निकट पाया। मनुष्य को रोने और हँसने में परितृप्ति मिलने लगी। शूद्रों को कुछ लाभ हुआ।

किंतु धूर्त और पाखंडी मंदिरों में अपना मतलब साधने लगे। पुजारी वर्ग अधिक से अधिक लोलुपता की ओर अग्रसर हो चला। मंदिरों में व्यभिचार होने चला।

विचार की यह समानता समाज का जातिबंधन नहीं तोड़ सकी। बंधन फिर भी बने रहे।

तत्कालीन अवस्था में यह पहली बार एक कदम आगे बढ़ना! इसे एक ही क़दम कहा जा सकता है। इसके इस बंधन का मूल यही था कि यह भी वेद विधान के बाहर नहीं गया।

सहजयान ने ब्राह्मण विरोध किया। बहुत सी नीच जातियाँ तथा बौद्ध और शैवों ने सहज के अखाड़े में आकर ताल ठोंकना प्रारम्भ किया। चुनौती दे दी गई।

बाह्याचरण की निंदा की गई। तंत्र मंत्र सब बेकार था। अर्थात् धर्म का शासक वृन्द ठुकरा दिया गया। मनुष्य को स्वाभाविक होना ही उसके लिये आवश्यक बताया गया। क्यों तीर्थ स्नान करते हो? पूजा से क्या होता है? इन ब्राह्मणों के चक्कर में मत पड़ो। सहज को पकड़ो।

सहज की यह साधना बहुत अच्छी थी। समाज ने इससे लाभ भी उठाया। परन्तु इसकी असफलता का कारण इसी का वाह्याचार था।

इसी आनंद की अभिलाषा में मदिरा और स्त्री लौटे। अब के स्त्री की देह को उस यांत्रिक आसक्ति से नहीं देखा गया। वह मात्र पुरुष का साधन नहीं थी उसके सुख का भी ध्यान रखा गया। तभी इस काल में स्त्रियों का नाम भी सहजयानी सिद्धों की सूची में आ गया। अभी तक पुरुष के लिये स्त्री आधार थी। अब संभोगसुख में स्त्री को भी महासुख मिलने लगा। खाने, पीने में वह भी पीछे नहीं थी। उसे भी इनका सुख ज्ञात था।

इस प्रकार पहली बार दोनों को इस क्षेत्र में समानता मिली। परंतु यह पुरुष की आसक्ति इसलिये अधिक थी कि उसे स्त्री में योनिप्राप्त थी। इस आधार पर दिये अधिकार उसके वास्तविक अधिकार नहीं थे।

किंतु उसका चरम उद्देश्य यह सब भी नहीं था। सबके परे एक शून्य था। स्पष्ट है समाज इस सहज को अधिक नहीं पकड़ सका। उसको जिस ठोस रूप की आवश्यकता थी वह अब भी नहीं था। भीतर से कुन्ड-लिनी सिर उठाने लगी थी। शरीर के भीतरी चक्र और पद्म अब धीरे-धीरे जाल बिछाने लगे थे।

जातियों का बंधन टूटा, ब्राह्मण दूसरे पक्ष पर विरोध में आ गया। वज्रयान की मूर्त्ति पूजा पीछे हट चली। नया मनुष्य समाज में उठने लगा। किंतु वह अधिकारहीन था। अतः उसने एकांत को ही पसंद किया। सांसारिकता उसके लिए जाल ही बनी रही। वह उससे बचना चाहता था।

सामंत परस्पर झगड़ते रहे। छोटे-छोटे राज्यों में रक्त और हत्या का ही व्यापार चलता था। सहजयान ने अहिंसा को अपनाया। सौभाग्य से यह अब के पशुओं पर नहीं उतरी क्योंकि पशुओं पर अहिंसा करने का अर्थ था मांस का नहीं मिलना। यह एक हानि थी।

बाहरी आक्रमण न होने से देश में शांति थी। गृहयुद्ध से जनता के जीवन में कोई भेद नहीं पड़ता था, इसलिये और सब अधिकारों की हीनता में एक सुख रह गया, कि कुछ करो धरो नहीं, खाओ, पियो, पत्नी को लेकर पड़े रहो।

सहज भी सधा, शून्य भी, परंतु समाज से ब्राह्मणवाद का विभेदीकरण नहीं गया।

नाथ योगी का सामाजिक रूप वास्तव में महत्त्वपूर्ण है। पहली बात तो यह कि नाथ संप्रदाय में बहुत से योग मत के मानने वाले आर्य, आर्येतर, बौद्ध, शाक्त, कौल, सब आकर मिल गये। यह गोरख का बनाया रंगमंच था। सब उस पर चढ़ने का प्रयत्न करने लगे। पर गोरख ने स्त्री को अपने पथ से बहुत दूर हटा दिया। स्त्री को माता कहा गया। यदि संसार भर इसे मानने लगता तो गति रुक जाती।

जाति विरोध हुआ। ब्राह्मण, वर्णव्यवस्था तथा वेद को अब नीचे दर्जे की चीज़ कहा जाने लगा। लेकिन इसका कारण एक और था। वह यह था कि यह सब सांसारिकता में लिप्त थे। इनमें लिप्त रह कर रटी लकीर पर चलने से क्या किसी को कुछ मिल सकता था।

योगी सबसे परे था। उसे किसी प्रकार के भी संबंध की आवश्यकता न थी: सब ममता के बंधन खंड-खंड होकर उड़ गये। एकांत योगी सबसे अलग निर्विकार हो गया। वह अपने आपको आकार के समान बनाने लगा।

सामंत विरोध प्रत्यक्ष रूप में नहीं हुआ। योगी से कहा गया कि राजा और प्रजा को समान दृष्टि से देख। तो क्या इससे राजा और प्रजा एक हो गये? नहीं। क्योंकि योगी सबसे ऊँचा था, वह था जिसने जीवन की चरम अनुभूति को प्राप्त कर लिया था। कुंडलिनी भीतर लहराने लगी थी। ऊपर से टपकते अमृत को अब नीचे के सूर्य्य ने शोषित करना बंद कर दिया था। अनेक चक्र शरीर में दृढ़ और सुस्थिर हो गये।

बाहर संभोग बंद हुआ, पर शरीर के भीतर ही एक लिंग और योनि मानी गई। और भीतर ही संभोग होने लगा, इससे समाज चक्कर में पड़ गया। अद्भुत पहेली थी। जो कुछ था शरीर के भीतर था। बाहर को इस उत्कट विरोध के साथ किसी ने भी नहीं त्यागा था। बैठने पर अनाहत नाद सुनाई देने लगा और जब शिव शक्ति का सहस्रार में मिला हुआ योगी के लिये समय स्थिर हो गया। त्रिकाल स्तब्ध हो गये।

सारा समाज पुकार उठा—रहस्य! रहस्य!

उसने पूछा : योगी इसे समझाओ।

योगी ने एक उलटबाँसी सुनाई।

और जन-समाज चकित विभ्रांत सा मूढ़वत रह गया।

उधर ब्राह्मणवाद ने इसे देख कर अपनाने की चेष्टा की। अंत तोगत्वा वे प्राचीन आर्येतर शैव योगमत एक आकार पा गये थे, जिनकी जघन्य उपासनाएँ समानताएँ तथा साधनाएँ नष्ट हो चुकी थीं।

धर्म विरोधी तत्त्व छोड़ दिये गये। ब्राह्मण ने भी कहा—हाँ, यह हठयोग उत्तम है। राजयोग का एक साधन है।

उसका समाज सुरक्षित था न सामंत पर चोट थी, न उसके पुजारी वर्ग पर। जातियों में बद्ध समाज तड़प रहा था। किंतु उसने योगी को श्रद्धा से सिर झुकाया, चाहे वह किसी जाति का हो। जिस अवस्था पर योगी पहुँचा हुआ माना जाता था, वह इतनी संसार से अलग थी, जितना कोई भी न था, क्योंकि पिंड में अब ब्रह्माण्ड समा गया था।

गोरखनाथ के बाद यही नाथ संप्रदाय स्त्री को न छोड़ सकने के कारण गृहस्थ रूप में रहा और बहुत शीघ्र मंदिर बना कर बैठ गया। गद्दियों पर महंत जा बैठे। एक और जुड़ गया। एक और आ गया। उसी परंपरा में जिसमें अभी तक अन्य पुजारी थे।

इस प्रकार व्यक्तिवाद के चरम स्वरूप ने अपनी सामाजिकता को

भुंठा दिया। सहजयान ने जो थोड़े बहुत अधिकार स्त्री को दिये थे, वे फिर निष्ठुरता से छीन लिये गये। समाज का आधा अंग इस त्याग में घृणित कह दिया गया।

पर बात नहीं रुकी। स्त्री तो घुसी और अब के भी अपने पुराने रूप में चुनौती देकर आई कि मूर्ख पुरुष! मेरे बिना जी सकेगा? और कनक रावल ने उसे स्वीकार किया, स्वीकार सबने किया। न करते तो योगी संप्रदाय एक पीढ़ी में ही समाप्त हो जाता।

निर्गुणपंथी संप्रदाय भी निम्नजातियों का प्रयास है। कोई जुलाहा था, कोई नाई, कोई चमार, कोई धुना। सब ही ऐसे थे जिन्हें पेट पालने के लिये सांसारिक काम धन्धे करने पड़ते थे। ब्राह्मण की भाँति इनमें से व्यवस्था देने की हैसियत किसी में भी नहीं थी। इन्होंने केवल विद्रोह किया था।

इतिहास आगे बढ़ा; कट्टरता और कट्टर होती गई। कबीर आदि ने जो पथ सामंजस्य के लिये दिया था, वह नितांत व्यक्ति की चीज़ थी। उसमें उस शून्य से तादात्म्य था, जिसको 'अलह निरजन' कहा जा सकता था।

भारतीय धर्मसाधना का जो बहुत प्राचीनकाल से व्यक्तिपक्ष था, उसको यह संत नहीं छोड़ सके। ऊपर हम पहले इनकी मानसिक अवस्थाओं का द्योतन कर चुके हैं। संसार में भी प्रायः परंपरा के रूप में बदलना चाहते थे। अर्थात् सारे आधारों को छोड़ कर मन को बदलना चाहते थे, न ये हिन्दू बनते थे, न मुसलमान ही। कबीर ने भी यही किया था।

निम्न जातियों के लोग थे। इनके पास तो अधिकार थे नहीं। जो था वह प्राप्ति के स्वरूप में था। अतः उनका सब मानवतावाद उन्हें नहीं रुचा जिनके पास था। वे उसे इतनी सरलता से कैसे छोड़ सकते

थे। अतः जिनका अभाव था, जो चीजें नहीं थीं, निर्गुण उन्हें ही भ्रम का जाल मानकर गाने लगे।

ज्ञान के स्थान पर यदि ब्राह्मणों ने ही भक्ति का प्रचार किया था, तो निर्गुण पंथियों ने उसे स्वीकार भी कर लिया था। कबीर और रामानंद की कथा में यह स्पष्ट हो जाता है।

यह सच है कि नीच जातियों के विद्रोह की लहरें कबीर के समय में बहुत ऊँची उठ गईं। समस्त रूढ़िवाद खतरे में पड़ गया, पर वे लहरें फिर धीरे-धीरे उतर चलीं। इसके अनेक कारण कहे जा सकते हैं। जिनमें एक सगुण पक्ष का वेग से बढ़ना भी था।

सगुण की चोट से निम्नलिखित ढाँचा लड़खड़ा गया :

जल पृथ्वी मिलि बनो है सरीरा
अग्नि पवन ता मध्य समाई
सून्य स्वभाव अकास भरो है
तू नहिं जानत चेतन साँई।

यदि इस परवर्ती रूप को न भी देखा जाये, तो भी कबीर के चिंतन का चरम गतिशील नहीं था। वह मात्र शून्य था, जिसकी अनुभूति होती थी। जिसमें से अनहद सुनाई देता था।

धीरे-धीरे सब ब्राह्मण विरोधी धर्म ब्राह्मणों के अनुकूल बनने का प्रयत्न करने लगे। जैसे उसके बिना उन्हें और कोई चारा नहीं रहा था। निर्गुण के उपासकों में भी बावजूद अपने सिद्धान्तों के एक सगुण की ओर चलने की प्रवृत्ति दिखाई देने लगी।

कबीर के अनुवर्त्तियों में मंत्र बने :

वो सो जो को अ अ निः म वे कां अ मी हं हं हं हं हं हं छो रू है, सं हं-म म नो ग नि पू पत अ हं।

तथा बावन कसनी में—

टं टं टं टी टी टी काल नेता हैं सोय ।

और भी—

बार बार जो मैं कहौं, अक्षर में है भेद

सुनु बंकेज कोई जीते नहीं । नाम प्रताप घनें ॥

बं बं बं लहालहम् स्वाहा स्वाहा ॥

बिपिन के बैरी बैर करें । पढ़े शब्द चितलाय ॥

बैरी नाश के कराने । काया शब्द उच्चार ॥

कं कूं कुं स्वाहा ॥

यह संस्कृत न जानने वालों का कितना हास्यास्पद प्रयत्न था । तंत्रों की परंपरा को यहाँ कितने निर्बल रूप में जीवित रखने की चेष्टा की गई ।

संक्षेप में इस सबको यों कहा जा सकता है :

चली पूतरी नोन की, थाह सिन्धु को लेन

आपन गल पानी भई, उलट कहै को बैन ?

कबीर के अनुयायी प्रायः ही निम्न जातियों के लोग थे । इनमें भी जुलाहे मुख्य थे । ये जुलाहे उन शाक्तमतावलंबियों की संतान थे, जिनमें से बहुत से मुसलमान हो चुके थे । इनमें बौद्ध पभाव के कारण प्राचीन आर्येतर ब्राह्मणविद्वेष की भावना अत्यंत तीव्र थी ।

किंतु अब हीनत्व की भावना चढ़ी । ब्राह्मण के बिना गद्दी का चलना कठिन था । क्योंकि वेद से दूर किसी पर अधिक दूर तक विश्वास नहीं चलता था । कुछ कुछ वही हुआ जो गौतम की मृत्यु के उपरांत उनके विषय में हुआ था ।

कबीर के जन्म के विषय में झूठी झूठी मनगढंत कहानियां बनाई गईं, जिन्होंने कबीर के अक्खड़ व्यक्तित्व को नीचे गिरा दिया । क्योंकि अनुयायी तो एक पूरी धार्मिक हवा बहाना चाहते थे । किसी अवतार

या संत के बिना यह हो नहीं सकता था। इसलिये वेद में से ढूँढ़ ढूँढ़ कर निकाला गया कि कबीर का उल्लेख वेद में कहाँ-कहाँ हुआ है। उसका प्रचार किया गया।

कबीर की दत्तात्रेय, गोरख आदि से मुलाकात कराके सबको पराजित किया गया। यह तो प्रायः सभी परवर्त्तियों का नियम रहा। हर संप्रदाय में अपने अपने को ऊंचा उठाने के लिये ऐसी गाथाएँ बनीं, चलीं, और लुप्त हो गईं। या रूढ़ि बन कर अटकी रह गईं। इससे कोई रास्ता नहीं निकला।

जिसे बदलना था उसकी कोई महत्ता ही नहीं मानी गई। कबीर के प्रभाव में समाज दो रूपों में बँटा। एक तो वे कबीर पंथी हुए जो महंतों की भाँति गद्दी सजाकर बैठे। इनको प्रत्येक कबीर साहब के अनुयायी की आमदनी का दसवाँ भाग मिलना धर्म का नियम हो गया। दूसरे वे जो पूरे संत बन गये। वे संसार से अलग हो गये, और पागलों की भाँति दिखाई देने लगे।

कबीरपंथियों ने जाति बंधन को अधिक हाथ नहीं लगाया। बल्कि उन पर ब्राह्मणों का प्रभाव बना रहा। संस्कृत नहीं जानने के कारण यह लोग वेद से बहुत दबते थे और ब्राह्मण इन्हें वेद सीखने नहीं देता था।

बीजक कबीर साहब का पूज्य हुआ। उसमें पीछे से बहुत से लोगों ने अपना मन गढ़ंत चीजें कबीर के नाम से जोड़ दीं जिसके कारण कबीर का वास्तविक रूप काफ़ी विकृत करके अनुयायियों के सामने उपस्थित किया गया।

निर्गुण संप्रदाय का विद्रोह भक्ति में ऐसे खो गया जैसे—

सिंधु समानो बुन्द मों, बुंद ही सिंधु समान
सिंधु बुंद में वै भयो, बहुर न आवाजान।

सगुणोपासक संत फिर उसी वर्णाश्रम धर्म को मानने वाले थे।

न वे संसार को मूल संन्यासियों की भाँति छोड़ना चाहते थे, न भस्म रमाना चाहते थे। वेद का कर्मकांड भी अब अपने घिसे कोने लेकर उपस्थित हुआ। अतृप्त वासनाएँ पवित्र हो गईं और मनुष्य मनुष्य को ईश्वर के सम्मुख फिर अपना कहने लगा। किंतु भाग्यवाद ने इस प्रेम की जड़ें काट दीं। यह एक असमर्थ की विवशता हो गई। जिस समाज में और कोई रक्षक न था वहाँ परमात्मा के अतिरिक्त और कौन हो सकता था?

इस भक्ति से जाट, गूजर, मैना, अहीर, धाकर आदि कबीला जातियाँ ब्राह्मणों के और समीप आ गईं।

सूर ने अस्वीकार किया कि वह किसी अन्य निर्गुण के सामने अपना सिर झुकायेगा। समाज को जिस स्नेह और सरसता की आवश्यकता थी वह जागरूक हो उठी। बांसुरी बजने लगी। वह बजी जो युगों के स्वर निकाल कर सूने हृदयों को भरने लगी। भक्ति का क्षेत्र फिर लौट आया। परकीया प्रेम स्वीकार किया गया। उसके पीछे एक पुरानी परंपरा थी। उसे छोड़ देना सहज नहीं था। किन्तु वह परकीया प्रेम स्त्री को जो अधिकार देना चाहता था, जब वह वेद सम्मत भी बना तो वह एक भावना की वस्तु हो गई।

कृष्ण के सरस और सुन्दर रूप ने जीवन की अखंड नीरसता, और रहस्य के हाहाकार को लौटा दिया। गायें भी आईं, वन के पेड़ तक बोलने लगे। अतीत के लिये सारा चराचर रोने लगा। समाज ने एक शांति पाई। अपने विरोधों में संतोष पाया।

तुलसी ने समन्वय से काम लिया। उन्होंने पहले भीतर के ही दार्शनिक पक्षों का संतुलन करने का प्रयत्न किया। निर्गुण को देखा। उसे वे अस्वीकार नहीं कर सके। किन्तु सगुण उन्हें अधिक रुचा। सगुण भी वह जिसके हाथ में धनुष बाण थे। तुलसी ने ब्राह्मण अधिष्ठाता बन कर मुसलमानों के वैभव विलास का एक

सांस्कृतिक और सामाजिक समानांतर खड़ा करने की कोशिश की। ज्ञानकांड भी आवश्यक माना। पर तर्क बुद्धि बहुत दूर नहीं ले जा सकती थी। वे जिस वर्णाश्रम को फिर से स्थापित करना चाहते थे, वह केवल श्रद्धा और भक्ति के बल पर पल सकता था। और यही हुआ। तुलसी ने आर्य्य सामाजिक व्यवस्था में स्वीकृत शैवों को अपनाया, आर्य सामाजिक व्यवस्था से बाहर के शैवों की निंदा की। अपने मत की इतनी अधिक स्तुति की कि सुनने वाला चकरा गया। तुलसी ने धर्मशास्त्रकार की भाँति ऊँचे स्वर से पाप पुण्य का लेखा-जोखा किया। सामंतवाद का उज्ज्वल प्रतीक तुलसी कबीर को धक्का देकर आगे बढ़ा। यह भक्ति हृदय की मात्र श्रद्धा नहीं थी। यह ज्ञान तब तक स्वीकृत था जब तक वेद को सब प्रश्नों से ऊपर समझ ले। यह भक्ति वेदसंमत होनी चाहिये थी। वह भक्ति नहीं जिसे कबीर चाहता था। भक्ति किसकी? राम के सगुण रूप की। राम कौन? दाशरथि राम, मर्य्यादा पुरुषोत्तम निगमागम संमत, वेद, ब्राह्मण, गौ पालक। बहुत प्राचीन परंपरा अबके बहुत उग्र रूप धारण करके लौट आई। जिन ब्राह्मणों ने एक समय क्षत्रिय को राजर्षि से ब्रह्मर्षि मानने से इंकार किया था, त्यागी बन कर सब से ऊँचा दर्जा रखने के लिये, अब तक जो प्रयत्न कर रहे थे कि उच्चवर्णों में क्षत्रिय हमसे पूर्णतया संगठित हों, एक क्षत्रिय को अवतार बना कर उतार लाये और उसे लोक रक्षक कह कर उसकी पूजा करने लगे। यहाँ तक कि ब्राह्मण रक्षक परशुराम भी हरवाये गये।

शूद्र, नारी सबके अधिकार फिर छिनने लगे। सबको ताड़ना का अधिकारी बनाया गया। लोग दरिद्र थे, क्योंकि वे वर्णाश्रम धर्म को छोड़ गये थे। वे ब्राह्मणों पर पहले जैसी श्रद्धा क्यों नहीं रखते? इसीलिये कलि का प्राबल्य है। वर्ना क्या पृथ्वी के देवता के सामने वह पहले नहीं उठ सकता था?

तुलसी ने न केवल वेद को लिया, वरन् उस रूढ़िवादी ब्राह्मणवाद

को लिया जिसने पुराणों की रचना की थी। पुराण, मनुस्मृति, सब फिर मुखर होकर बोलने लगे। लोगों के दुखों का कारण बताया गया कि वे ब्राह्मण की बताई मर्य्यादा को छोड़ रहे हैं।

समाज ने एक सशक्त पुकार सुनी। लौट चलो। कहाँ निर्गुन के शून्य में ला रहे हो। राम का नाम जपो। कलि में बुद्धि का पथ नहीं है। अब तो श्रद्धा की आवश्यकता है। उससे बहस करके, यह लोक और वह लोक, दोनों नष्ट मत करो। हे शूद्रो! सेवा करो। यह संसार एक माया है। जो मिले उसी में संतोष करो। रामराज्य को फिर से स्थापित करो। रामराज्य एक सामंतीय व्यवस्था थी जिसमें शम्बूक जैसे शूद्र को तप करने पर तुरंत दण्ड दिया गया था। जातीय विद्वेष में भूला समाज बह गया, रम गया। और तुलसी का वह स्वर समाज को पीछे खींच ले चला।

समता नहीं रही। ईश्वर के समुख सब बराबर होगये। इस पृथ्वी पर तो कोई सवाल ही नहीं था। मनुष्य भाग्य के कारण वर्णभेद में पैदा होता था।

कबीर, नाथपंथ सब फूँक में उड़ गये। उन्होंने सात या आठ सौ बरस जो स्वर उठाया था वह लहर हो गया। विवशता की विकृति फिर सहज स्वीकार्यबंधी परिस्थिति में बदल गई। ईश्वर तो दीखने लगा।

इस्लाम के विरुद्ध रेखा खिंच गई। धर्म की रूढ़ि रेखाएं खींच कर हिंदू समाज ने आँखें मिलाईं। सामंत का ही मुसलमान से विशेष विरोध था। वह अब अपनी प्राचीनता के नाम पर दृढ़ हुआ। जनता ने उसे स्वीकार कर लिया। तुलसी की विजय हुई। किंतु समाज का बंधन और व्यवस्था, उसके शोषण के आधारों को नष्ट नहीं कर सकी। मुक्ति फिर भी एक व्यक्तिगत साधना ही बनी रही।

योद्धा संतों का क्रमशः विकास आकस्मिक नहीं था। समस्त संत आत्म-त्याग की भावना पर ही निहित थे। यहाँ धर्म सदैव व्यक्तिगत सुख और मुक्ति की राह थी। अब वह भावना बदल चली।

सांस्कृतिक और सामाजिक समानांतर खड़ा करने की कोशिश की। ज्ञानकांड भी आवश्यक माना। पर तर्क बुद्धि बहुत दूर नहीं ले जा सकती थी। वे जिस वर्णाश्रम को फिर से स्थापित करना चाहते थे, वह केवल श्रद्धा और भक्ति के बल पर पल सकता था। और यही हुआ। तुलसी ने आर्य्य सामाजिक व्यवस्था में स्वीकृत शैवों को अपनाया, आर्य सामाजिक व्यवस्था से बाहर के शैवों की निंदा की। अपने मत की इतनी अधिक स्तुति की कि सुनने वाला चकरा गया। तुलसी धर्मशास्त्रकार की भाँति ऊँचे स्वर से पाप पुण्य का लेखा-जोखा किय सामंतवाद का उज्ज्वल प्रतीक तुलसी कबीर को धक्का देकर आगे बढ़ वह भक्ति हृदय की मात्र श्रद्धा नहीं थी। यह ज्ञान तब तक स्वीकृत जब तक वेद को सब प्रश्नों से ऊपर समझ ले। यह भक्ति वेदसंमत चाहिये थी। वह भक्ति नहीं जिसे कबीर चाहता था। भक्ति किसकी? के सगुण रूप की। राम कौन? दाशरथि राम, मर्य्यादा पुरुष निगमागम समत, वेद, ब्राह्मण, गौ पालक। बहुत प्राचीन परंपरा बहुत उग्र रूप धारण करके लौट आई। जिन ब्राह्मणों ने एक समय क्षत्रि राजर्षि से ब्रह्मर्षि मानने से इंकार किया था, त्यागी बन कर सब से दर्जा रखने के लिये, अब तक जो प्रयत्न कर रहे थे कि उच्चवर्णों में हमने पूर्णतया संगठित हों, एक क्षत्रिय को अवतार बना कर उतार और उसे लोक रक्षक कह कर उसकी पूजा करने लगे। यहाँ त ब्राह्मण रक्षक परशुराम भी हरवाये गये।

शूद्र, नारी सबके अधिकार फिर छिनने लगे। सबको ताड़न अधिकारी बनाया गया। लोग दरिद्र थे, क्योंकि वे वर्णाश्रम धर्म गये थे। वे ब्राह्मणों पर पहले जैसी श्रद्धा क्यों नहीं रखते? इसीलि का प्राबल्य है। वर्ना क्या पृथ्वी के देवता के सामने वह पहले न सकता था?

तुलसी ने न केवल वेद को लिया, वरन् उस रूढ़िवादी ब्रा

को लिया जिसने पुराणों की रचना की थी। पुराण, मनुस्मृति, सब फिर मुखर होकर बोलने लगे। लोगों के दुखों का कारण बताया गया कि वे ब्राह्मण की बताई मर्य्यादा को छोड़ रहे हैं।

समाज ने एक सशक्त पुकार सुनी। लौट चलो। कहाँ निर्गुन के शून्य में जा रहे हो। राम का नाम जपो। कलि में बुद्धि का पथ नहीं है। अब तो श्रद्धा की आवश्यकता है। उससे बहस करके, यह लोक और वह लोक, दोनों नष्ट मत करो। हे शूद्रो! सेवा करो। यह संसार एक माया है। जो मिले उसी में संतोष करो। रामराज्य को फिर से स्थापित करो। रामराज्य एक सामंतीय व्यवस्था थी जिसमें शम्बूक जैसे शूद्र को तप करने पर तुरंत दण्ड दिया गया था। जातीय विद्वेष में भूला समाज बह गया, रम गया। और तुलसी का वह स्वर समाज को पीछे खींच ले चला।

समता नहीं रही। ईश्वर के समुख सब बराबर होगये। इस पृथ्वी पर तो कोई सवाल ही नहीं था। मनुष्य भाग्य के कारण वर्णभेद में पैदा होता था।

कबीर. नाथपंथ सब फूँक में उड़ गये। उन्होंने सात या आठ सौ बरस जो स्वर उठाया था वह लहर हो गया। विवशता की विकृति फिर सहज स्वीकार्यबंधी परिस्थिति में बदल गई। ईश्वर तो दीखने लगा।

इस्लाम के विरुद्ध रेखा खिंच गई। धर्म की रूढ़ि रेखाएं खींच कर हिंदू समाज ने आँखें मिलाईं। सामंत का ही मुसलमान से विशेष विरोध था। वह अब अपनी प्राचीनता के नाम पर दृढ़ हुआ। जनता ने उसे स्वीकार कर लिया। तुलसी की विजय हुई। किन्तु समाज का बंधन और व्यवस्था, उसके शोषण के आधारों को नष्ट नहीं कर सकी। मुक्ति फिर भी एक व्यक्तिगत साधना ही बनी रही।

योद्धा संतों का क्रमशः विकास आकस्मिक नहीं था। समस्त संत आत्म-त्याग की भावना पर ही निहित थे। यहाँ धर्म सदैव व्यक्तिगत सुख और मुक्ति की राह थी। अब वह भावना बदल चली।

इस्लाम का शासन केवल धार्मिक शासन नहीं था। उस धर्म के पीछे राज्य शक्ति थी। इसका अभी तक हिंदू कोई उत्तर नहीं दे सके थे। इस्लाम का समानांतर हिंदुओं में बनने लगा क्योंकि संतों पर प्रहार इस्लाम ने नहीं राज्य ने किया था। तलवार का जवाब देने के लिये तलवार उठी। उठी कि दिशाएँ चौंक उठीं। भारतीय धर्मों ने अपने इस उग्र संप्रदाय को देखा जो टक्कर लेने के लिये उठ खड़ा हुआ था। काल के विजेता धर्मांध हो उठे थे।

धर्म अब मजहब हो गया। उसमें कट्टरता भर गई।

मुसलमानों में अपवित्र सूहर इनमें पवित्र हो गया। अहिंसा और सत्य सहज के वे अनुयायी सदैव कृपाण रखने लगे, जैसे उसके बिना इनका काम चलना असंभव था।

हिंदुओं से इनका विरोध कोई मौलिक नहीं था। जातीय घृणा भी नहीं थी। यह बात दूसरी है कि कुछ लोगों ने इससे भी फायदा उठाने का प्रयत्न किया। दार्शनिक पक्ष में यह मज़हब इस्लाम के बहुत निकट था। प्रायः भाषा बदल देने पर दोनों में कोई विशेष भेद नहीं रहता। पर मुसलमानों से इन्हें चिढ़ थी।

इसने जातीय घृणा फैलाई। देश प्रेम से ऊपर जाति प्रेम हो गया। यही मुसलमानों में भी था। सिखों में इसी जातीयता का अत्यंत उग्र स्वरूप हमें दिखाई देता है। सिख पहले अपने को सिख समझने की परंपरा में पलने लगा। गुरुद्वारा एक संगठन का स्थान होगया। वैसे सब मनुष्य समान थे। मुसलमान भी गुरुद्वारे में जा सकता था। उसमें कोई रोक-टोक नहीं थी। वेद को अस्वीकार कर दिया गया। किंतु ब्राह्मण ने सिख से घृणा नहीं की। सांस्कृतिक पक्ष में सिख हिंदू की रक्षा करने को उठा था।

किन्तु समाज का आधार नहीं बदला। किसान और सामंत के पारस्परिक व्यवहार में कोई भेद नहीं आया।

जातिभेद टूटने लगा। जो सिख हो गया, वह हिंदू रहा न मुसलमान।

इनके गुरु स्वयं हिंदू थे। उन्होंने कभी अपने को हिंदुओं से अलग नहीं कहा था। निर्गुण उठा। उसके सामने सब समान हो गये। एक पंक्ति में खड़े होकर प्रार्थना होने लगी। छुआछूत टूट गया। बाकायदा फौजी रूप जैसी पोशाक समस्त जाति के लिये आवश्यक हो गई। वेश से ही सिख को पहचाना जा सकता था। किंतु इससे समाज का बाह्य रूप बदला।

महाजन, सेवक, शासक, सबका धार्मिक दर्जा एक हो गया। किंतु सामाजिक अधिकार नहीं बदले। सेवक सेवक ही रहा। धनी धनी ही रहा। सिखों ने राज्य किया। केवल एक राजवंशावली में परिवर्त्तन हो गया और कुछ नहीं हुआ। स्त्रियों को ग्रंथसाहब पढ़ने का अधिकार मिला; किंतु सामाजिक स्वतंत्रता नहीं मिली।

गरीब-अमीर नहीं बदले।

धीरे-धीरे इनमें किताब की पूजा होने लगी। अब गुरु ऐसे नहीं हुए जिनकी बानियाँ इकट्ठी करने योग्य समझी जाती, इस प्रकार अब पुरानी बात ही बार-बार दुहराई जाने लगी।

समर्थ रामदास तथा गोविंदसिंह पर भवानी का जो प्रसाद हुआ वह उनके अनुयायियों पर अपनी तलवार का भार मात्र छोड़ गया। उससे अधिक और कोई प्रभाव नहीं पड़ा। भाई चारे की कितनी भावना सिखों में है उतनी किसी जाति में नहीं।

निरंतर हिंदू संसर्ग बना रहा। सिखों की समस्त सांस्कृतिक परंपरा हिंदू ही थी। धीरे-धीरे इनको भी जाति-भेद ने भीतर से ग्रस लिया। हिंदुओं से भी इनके विवाह होते रहे। आपस में भी गोत्र आदि छोड़े जाने लगे। अरोड़ा और अन्य, इस प्रकार परस्पर भीतर ही भीतर छोटे छोटे भेद हो गये। सिख इस विराट परिवार में एक जातिमात्र बन कर रह गये।

कालांतर में निर्गुण संप्रदाय के प्रभाव में राधास्वामी मत उठा। यह अहिंसा और शांति का पथ था। इसने आत्म सामर्थ्य के नाम पर व्यापार

शुरू किया और शीघ्र ही एक पूंजीवादी व्यवस्था का छोटा-सा दुर्ग बना लिया। धार्मिक एकता मुनाफ़ों पर लागू नहीं हुई।

निस्संदेह यदि कबीर होते तो इन सबको देखकर चीत्कार कर उठते : 'जाके संग दस बीस हैं, ताको नाम महंत।'

राधास्वामी मत का निर्गुण के अतिरिक्त सिख संप्रदाय से और कोई संबंध नहीं है।

नव भारत धर्म में दयानंद ने समाज में एक उग्र हलचल मचाई। धर्म जिसे सनातन कहकर माने हुये था, वह दिनप्रतिदिन समाज को जर्जर करता चला जा रहा था। किसी भी प्रकार की लोच शेष नहीं थी। उच्च वर्णों ने स्त्री, शूद्र, सबको एक समय में अपने लाभ के लिये बाँध रखा था। अब अंग्रेज नामक एक ऐसी जाति आ गई थी जिसकी सभ्यता कुछ नये ढंग की थी। अब उसने उच्चवर्णों के समस्त अधिकारों को छीन कर उनके लिये वही कानून बना दिया था जो शूद्रों पर भी लागू था। समाज को फिर से कुछ मुक्ति की आवश्यकता थी। इसीलिये शूद्र को समान माना गया। स्त्री को फिर से विधवा होने पर विवाह करने का अधिकार दिया गया।

पुनर्जागरण में प्रारंभ में ही मुसलमान तथा ईसाई धम से इसमें तनातनी हो गई। उनके प्रचार को ईर्षा की दृष्टि से देखा गया क्योंकि यह दोनों मृत हिन्दू समाज में से लोगों को बटोरने लगे थे। आर्य्य समाज ने शुद्धि आंदोलन चला। इससे यह सिद्ध किया गया कि जन्म के आधार ही सब कुछ नहीं है। मनुष्य का विश्वास भी कुछ है। वह चाहे तो अपने धर्म को बदल सकता है। दयानंद ने जाति के उत्थान के लिये पथ खोल दिया।

रूढ़िवाद तथा मूर्त्तिपूजा का कट्टर विरोध किया गया। यदि प्रार्थना समाज ने बाद में सन्त योद्धा का रूप लिया, यदि ब्रह्म समाज ने अपने आत्मा और ब्रह्म के मूल तत्त्वों को लिया, यदि रामकृष्ण और विवेकानंद

ने वेदांत और शाक्तमत के ज्ञान और मातृ भक्ति को लिया, थियोसोफ़िकल सोसायटी ने पुनर्जन्म लिया तथा जातीय बंधनों को तोड़ा, योगी पथ ने एकांत राजयोग का मार्ग लिया, आर्य्य समाज ने मुख्यतया अपना क्षेत्र विकेन्द्रीकरण से केन्द्रीकरण की ओर लगाया। आत्मशुद्धि होने लगी।

हममें जो अच्छा है वह हमारा बना रहे। हम किसी का मुँह नहीं देखते। जातीय गौरव अखंड होकर उठा। आर्य्य समाज का गतिशील समुदाय आगे चल कर स्वतंत्रता संग्राम में लग गया।

दासों में आत्म-गौरव जाग उठा। विदेशी को नीचा दिखाने के लिये बीच के अपने बंधन तोड़ने का प्रयत्न किया जाने लगा। किन्तु जाति भेद और ब्राह्मणवाद केवल नाम और श्रद्धा मात्र नहीं थे। उनके पीछे, एक सामाजिक व्यवस्था भी थी। उस पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। वह सामाजिक व्यवस्था खेती के जीवन से बँधी हुई थी।

सारी चेतना एक अतीत से बद्ध थी। एक वह अतीत जो सामन्तवाद का प्रतीक था। फ़र्क था कि जन्म से वर्णभेद नहीं होगा। होगा अवश्य और वह कर्मानुसार होगा। वर्ण व्यवस्था में मनुष्य एक दूसरे से घृणा करने का अधिकारी नहीं होगा। कुल का गर्व छोड़ना होगा।

जिस प्रकार शंकर ने ब्राह्मणवाद को बौद्ध सामंजस्य से नया रूप देने का प्रयत्न किया था, उसी प्रकार दयानंद ने विदेशी सामंजस्य में उसे नया रूप देने का प्रयत्न किया। किन्तु समाज में उत्पादन की व्यवस्था तेज़ी से बदल रही थी। यह जीवन व्यवस्था बहुत दूर नहीं चली।

पूंजीवाद, भाग्यवाद, भक्तिवाद, कुल विरोध सब चाहता था, पर अपने अधिकार बढ़ाना चाहता था। वह नया पथ खोज रहा था। आर्य्य समाज धीरे-धीरे अपनी प्राथमिक सफलताओं को भी कुंठा गया। समाज के उस आधार पर हमला नहीं हुआ।

उसके बाद भारत में एक अद्भुत वस्तु उठी। वह संघर्ष का पथ था, पर उसने घृणा और विद्वेष नहीं किया। वह स्वतंत्रता की कामना थी।

पर उसमें शासक के हृदय परिवर्त्तन की इच्छा थी। वह जागरण का पथ था, पर आत्मा की मुक्ति उसकी प्राथमिक चेतना थी वह गांधी का संदेश था।

धर्म, नैतिकता ने ही राजनीति को पकड़ा। किंतु परिस्थिति बदल चुकी थी। अब तक जाति बंधन था, नई-नई जातियों का आगमन था। राजाओं का बदलना जैसे नये-नये वंशों का आना था। परंतु अबकी बार समाज के उत्पादन के नियम भी बदल गये थे, जिन्होंने अपना क्रान्तिकारी स्वरूप छोड़कर जातीय भेद की आड़ में शोषण किया। अपने आपको बचाये रखने के लिये यहाँ के स्वार्थी शोषकों को जीवित रखा। पूँजीवाद के साथ सामन्तवाद बना रहा। एक पुराने जीवन का दर्शन जो नई परिस्थिति में क्रांति कर सकता था वह दब गया क्योंकि दोनों व्यवस्था एक दूसरे से ऐतिहासिक ढंग से मेल कर चुकी थीं।

क्या है, उसका इरादा क्या है, यही काफ़ी नहीं है। उसके काम का नतीजा ही बतलाता है वह क्या करता है।

गांधी ने १९३१ में इर्विन समझौता किया था। उससे देश का बढ़ता आंदोलन रुक गया था। उन्होंने १९४६ के नाविक विद्रोह को रोका था। अंत में उन्होंने व्यापारियों पर लगी हुई रोक भी उठवा दी थी। परंतु भारत और पाकिस्तान के विभाजन के समय जो पूँजीपतियों का लाभ था उन दंगों का गांधी ने विरोध भी किया।

यह विरोध गांधी में क्यों था ? पुरानी परंपरा का वह व्यक्ति नवीन विचारधारा को अपना नहीं सका था। उन्होंने स्वयं लिखा है : 'मेरे विचार में, भारत का आर्थिक विधान, बल्कि सारे संसार का ही ऐसा होना चाहिये, जिसमें किसी को खाने-कपड़े की तकलीफ़ नहीं हो। दूसरे शब्दों में हर एक को इतना काम मिलना चाहिये जिससे उसकी सब आवश्यकतायें पूरी हों। यह आदर्श तभी पूरा हो सकता है जब नित्य की आवश्यकताओं के उत्पादन के साधन जनता के हाथ में हों। यह ऐसे ही मिलने चाहियें जैसे ईश्वर की हवा और पानी। उन्हें दूसरों के शोषण

का साधन नहीं बनाना चाहिये। उन पर किसी देश, राष्ट्र या कुछ लोगों का सर्वाधिकार अनुचित होगा।' उन्होंने लिखा था : मुझे स्वीकार करना चाहिये कि मैं अभी तक साम्यवाद का अर्थ पूरी तरह से नहीं समझा हूँ। जो कुछ मैं जानता हूँ वह यह है कि यह व्यक्तिगत संपत्ति रखने का नियम मिटा देने का आदर्श है। मनुष्य की नीति विषयक विचारधारा है यह उसी का आर्थिक क्षेत्र में प्रयोग है कि अभाव ठीक है—कुछ अपने पास न रखने का दूसरा रूप है। यदि लोग इसे अपनी मर्ज़ी से मान लें या शांतिपूर्ण विनय से प्रार्थना और अनुनय से इसे स्वीकार करलें तो इससे बढ़कर कोई बात नहीं हो सकती। लेकिन जो मैं बोल्शेविज्म के बारे में जानता हूँ न केवल इसमें हिंसा का प्रयोग स्वीकृत है, वरन् व्यक्तिगत संपत्ति हटा कर, राज्य प्रबंध में सामूहिक अधिकार रखने के लिये इसमें हिंसा का स्वतंत्र प्रयोग समर्थन पाता है। यदि ऐसा है तो मुझे यह कहते हुए कोई हिचकिचाहट नहीं होती कि बोल्शेविज्म अधिक दिन नहीं चलेगा क्योंकि यह मेरा दृढ़ विश्वास है कि हिंसा पर आश्रित कोई बात ज्यादा दिन नहीं चलती। जो भी हो, इसमें कोई सदेह नहीं कि बोल्शेविक आदर्श के पीछे अनेक पवित्रतम पुरुष और स्त्रियों के पवित्रतम बलिदान हैं और वह आदर्श जो लेनिन जैसे महामना के बलिदानों से पवित्र हो चुका है, व्यर्थ नहीं जासकता। उनकी मुक्ति का महान् उदाहरण युगों तक चलता रहेगा। जैसे-जैसे समय व्यतीत होगा वह उस आदर्श को पवित्रतम करके उसकी गति बढ़ायेगा।

यही भावना रवींद्रनाथ ठाकुर में भी थी। पूँजीवाद एक आदर्शवाद को पालता है। वह आदर्श हेगेल के अनुसार द्वन्द्वात्मक है। अर्थात् जो जिस युग में जैसा है, वह वैसा ही ठीक है क्योंकि हर चीज़ को समय अपनी आवश्यकताओं के अनुसार पैदा करता है। गांधी का आदर्शवाद तुलनीय है। यह सामंतीय समाज पर आश्रित दर्शन है, जो स्थिर है जिसमें गांधी ने आकर सब से ऊपर मानवतावाद को रख लिया है। इठ

दर्शन का नग्न पूँजीवादी व्यवस्था से संघर्ष होता है, विरोध उत्पन्न होते हैं।

समाज ने स्वतंत्रता के लिये सङ्घर्ष किया। इसमें आर्थिक प्रश्न आये। यह संघर्ष वर्ग भेद पर मुखर नहीं रहा, जातीय भेद पर हुआ। स्वार्थसत्ता ने इससे लाभ उठाया। गांधी का दृष्टि-कोण उस दार्शनिक आधार की निर्बलता थी जो शताब्दियों से उच्चवर्गीय स्वार्थों की सामाजिक पृष्ठ-भूमि पर निर्धारित हुई थी।

टालस्टाय की भाँति ही गांधी भी क्रान्ति का दर्पण था।

संतों की वेदना

उपनिषद् का ब्रह्म, मीमांसा, सांख्य, वैशेषिक, न्याय, औलुक्य, अक्षपाद, पाणिनि, पातंजल, रसेश्वर, शैव, प्रत्यभिज्ञा, नकुलीश पाशुपत, पूर्णप्रज्ञ, वेदांत, रामानुज आदि दर्शन में आस्तिकता, नास्तिकता के द्वंद्वों में पड़ा अपना पथ चल रहा था। इनमें आर्य सामाजिक व्यवस्था में ग्राह्य और अग्राह्य दोनों ही दर्शनों का अपनापन था। इनके अतिरिक्त बौद्ध, अर्हत, तथा चारवाक दर्शन ने भी अपना अपना आधार खड़ा किया था। ब्रह्म है, ब्रह्म नहीं है, पुरुष और प्रकृति ही सब कुछ करती हैं, इत्यादि परस्पर के तार्किक द्वंद्वों की ही पृष्ठिभूमि पर यह संतपरंपरा उन्नत हुई थी। हमने इस चिंतन का आधार स्पष्ट किया और उसकी समाज पर जो प्रतिक्रिया हुई उसका भी विवेचन किया। अस्तु।

हमारे पूर्वजों ने समाज में कभी वर्ग भेद का आर्थिक आधार अपने चिंतन का लक्ष्य नहीं बनाया। बहुधा धर्मगुरु के अनुयायी स्वार्थसिद्धि में गुरु का नाम सहायक बनाते हैं। समाज में शोषित उठते-उठते अपने अधिकार मनवा लेता है। फिर वह अपने से निर्बल पर शोषण चक्र चलाता है। कितना भी महान् व्यक्ति क्यों न हो, वह अपने समाज से प्रभावित होता है।

भारत का वर्ग संघर्ष जाति संघर्ष के कारण ही दबा रहा है। यह जाति यदि एक ओर Race के लिये प्रयुक्त हुआ है तो उसका वर्गसवर्ग

का प्रच्छन्न रूप वर्णाश्रम जाति के रूप में रहा है। पहले यहाँ निम्न जातियाँ दलित थीं। उनका ब्राह्मण व्यवस्था से विरोध था। अब भी वह व्यवस्था नष्ट नहीं हुई है।

समाज का आर्थिक ढाँचा बदलने के साथ हमारा दर्शन बदलता है। परन्तु समाज का उत्पादन उसके दर्शन और संस्कृति से पहले बदल जाता है और शेष दो उसके अनुरूप धीरे-धीरे हो पाते हैं। इसमें एक पक्ष नये से चिढ़ कर पीछे खींचता है। दूसरा नये की ओर आता है। तीसरा पक्ष नया सिद्धांत पुरानी परिपाटी में फ़िट करना चाहता है।

उपर्युक्त विवेचन के फलस्वरूप हम भारतीय चिंतन की मुख्य समस्या को इस प्रकार रख सकते हैं :

१. देह क्या है ? — दुख है।
२. मन क्या है ? — दुख का कारण है।
३. स्त्री क्या है ? — दुख का पथ है।
४ संपत्ति क्या है ? — दुख का दूसरा पथ है।
५. परलोक क्या है ? — यह हम नहीं जान सके हैं।
६ हम रहस्य में भटक रहे हैं।

देह के साथ छुआछूत थी, मन के साथ चंचलता; स्त्री के साथ वासना, संपत्ति के साथ समाज का असाम्य। परलोक के साथ भय और अंधविश्वास, रहस्य के साथ जो भी परंपरा थी उसकी चुपचाप स्वीकृति।

इसे ही रवीन्द्रनाथ जैसे महाकवि भारत यात्री के असंख्य अनुभव कहते हैं। यह यात्री बहुत दिन से चलता चला आ रहा है। इसे अभी तक अपनी मंज़िल नहीं मिली है। इसने जीवन के प्रायः प्रत्येक दृष्टिकोण को अपनाने की चेष्टा की है। निरासक्ति की चरमावस्था से आसक्ति की चरमावस्था को भी स्वीकार किया है। दूर और पास का मोह कभी इसकी समस्या बना है, कभी इसका आश्वासन।

'अभी तक के दार्शनिकों ने केवल विचार किया है।' उन्होंने कभी जड़ पर उँगली रख कर नहीं कहा कि यह है, इसे काट दो, इसे मिटा दो और सब कुछ इसके बाद ठीक होने को विवश हो जायेगा।

अब अंत में हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। प्रत्येक संत महान् व्यक्ति था। महान् चंगेज़खाँ भी था, महान् हिटलर भी था। भारतीय इतिहास में इनके लिये समानान्तर खोज निकालना कठिन नहीं है। किन्तु संतों की महानता इन लोगों की महानता नहीं कही जा सकती। यह लोग लोभ, द्वेष आदि की प्रेरणा तथा महात्वाकांक्षा की स्पृहा से संसार में काम करते थे। हमारे सतों में यह बात नहीं पाई जाती। यदि वे आमत्प्राप्ति के लिये यह संत बाना धारण करते थे, जैसा कि कुछ लोग कहते हैं, तब तो बात ही और है। वास्तव में ऊँचे उठे हुए लोग थे, वे ईमानदार थे और संसार को सुखी बनाना चाहते थे।

संसार को सुखी बनाने की उनकी कामना वास्तव में संसार को सुखी नहीं बना सकी, यह विवेचन हम कर चुके हैं। प्रायः प्रत्येक संत के अपने विश्वास थे और बुद्धि के ऊपर सहारा देने वालों की भी पुरानी ही पृष्ठि-भूमि थी, जिसकी दलदल पर पाँव टिकना एक अत्यत कठिन काम था। फिर भी जो भी कुछ सामंतवाद का विरोध किया गया वह मुख्यतः इन्हीं संतों में मिलेगा।

इस दृष्टिकोण से सामाजिक रूप में उनका काम अधिक दूर तक नहीं गया। एक विराट समुद्र का साज प्रसार, उसमें कंकड़ फेंकने से जैसे लहरियाँ उठती हैं, फैलती हैं और फिर फैलती चली जाती हैं, जैसे-जैसे दूर से दूरतम होती जाती हैं, हलकी होती जाती है तभी कोई दूसरा कंकड़ आकर गिरता है और उसकी अपनी लहरियाँ प्रारंभ हो जाती हैं, एक जगह ऐसी है जहाँ वे कहीं-कहीं पुराने कंकड़ की लहरियों को काटती हैं, या इतनी दूर गिरती हैं कि उनकी लहरियाँ, पुराने कंकड़ के द्वारा पैदा

की गई लहरियों को छू ही नहीं पाती, यही हमारे संत तथा उनका प्रभाव है !

जब राज्यों की भीषण उथल होती है, जब जातियों, कबीला जातियों का संघर्ष हुआ है, तब यह विस्तृत जलराशि तूफान में भयानकता से काँपने लगती है। जब वह तूफान कुछ गिरता है तब फिर लहरियाँ उठती हैं, यही हमारे समाज. संत का संघर्ष और हलचल से सम्बन्ध रहा है।

परलोक की भूख ही वास्तव में हमारे संतों के व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के लिये उत्तरदायी है। परलोक क्या है ? इसे इस समस्त परंपरा को पढ़कर भी कोई नहीं कह सकता। कोई सत्य मान लेने से ही सत्य नहीं हो जाता। मन को यदि आधे तरीके से समझा लिया जाये तो वह समाज के लोग हैं, यदि पूरे तरीके से समझा लिया जाये तो वह ईश्वरत्व है, या संत का खजाना है। किंतु इससे क्या काम चलता है ?

योग की क्रिया अद्भुत है। किन्तु क्या कोई चमत्कार है ? भूत क्या है ? कोई कोढ़ी क्यों होता है ? किसी के पास धन रहकर भी वह कोई सन्तान क्यों नहीं पाता ? गरीबों को ज़रूरत नहीं होती उनके बच्चे बहुत होते हैं। किसी गाँव में किसी पेड़ पर भिटरे का भूत रहता है। कहीं हार से निकल कर हाने पर बैठते ही नटनी की ऊधमी आत्मा ताल ठोंकने लगती है। यह रहस्य का क्षेत्र है। चमत्कार का क्षेत्र है। बहुत अंश तक परमात्मा की भाँति संत भी इसी अज्ञान के कारण हमारे समाज में पले हैं। यह पूरा सत्य नहीं है। अशिक्षित लोगों में पीढ़ियों तक जो बातें चलती आई हैं, उनका आधार यही बातें हैं।

इन्हीं बातों के साथ में एक शाश्वत जीवन का बोध है। यह शाश्वत जीवन का बोध एक शक्ति है। किंतु भारतीय समाज में इसके प्रति मूल में एक उपेक्षा है ! क्या हुआ ? यह कोई नई बात है ? ऐसा तो होता ही है, और होता रहेगा। यह उदासीनता अच्छी चीज़ नहीं है। इसीलिये तो

भारतीय समाज में यह सब लोग ही मानते हैं कि यह कलि- युग है। इसमें तो जो कुछ न हो वह अच्छा ही है। अर्थात् यह दुनिया तो गिर चुकी है। कभी-कभी परमात्मा भेज देता है, अपने किसी दूत को जो आकर उबार देता है। फिर दुनिया डूब जाती है। यह विचार जीवन की शक्ति है कि सदा ही संसार बुरे से बदतर नहीं होगा। जीवन का विश्वास है कि यहाँ सब अच्छाई के ही लिये रहते हैं। पर आधार रूप में मनुष्य हार चुका है। वेद काल में जो जुआ होता था, उसमें सुस्त और हारने वाले को कलि कहा करते थे। कालांतर में वह जूआ हारा हुआ रूप हमारे समस्त समाज को खा गया।

प्रश्न उठता है: ऐसा क्यों हुआ!

उत्तर है: समाज के संतों ने कभी सामाजिक रूप नहीं दिया। वे सदा इसे व्यक्ति पक्ष से देखते रहे। जिस संसार को सुधारना था, वे उसे गाली देते थे, उससे छूटने का उपाय बताते थे। स्त्री को किसी ने भी जीवन के मौलिक आधार नहीं दिये। उसे स्वस्थ इच्छा का अपना जैसा प्राणी नहीं माना। इस दुनिया के लिये 'उस' दुनिया की खोज की। कुछ भी समाज को नहीं मिला, वह तब से अब तक भटकता रहा।

संत परंपरा जब से प्रारंभ हुई, या जब से हमें उसके चिन्ह मिलते हैं, उत्पादन के साधन नहीं बदले। समाज का कोई नया रूप नहीं आया। सामन्तवाद अखंड रहा। इसको विदेशी जातियों के प्रहार ने अखंड बना दिया। शोषक एक सीमा तक रक्षक भी थे। गांधी के युग में उत्पादन के साधन बदले, किंतु वह वृद्ध नहीं बदल सका। उसने उसी ईश्वर वाले दृष्टि-कोण से देखा और समाज में भीषण विरोधाभास पैदा हुए।

संतों ने दलित वर्गों को उठाने का अधिकांश में प्रयत्न किया। यह यहाँ के वर्ग संघर्ष का समानान्तर है। याद रखना चाहिये कि निम्न जाति

केवल जाति के रूप में ही निम्न नहीं थी, उसके हाथ में समाज का कोई न कोई पेशा था. उत्पादन का भाग उस पर निर्भर था।

इस प्रकार संतों ने आधारभूत, सङ्घर्ष की जड़ को नहीं मिटाया। 'घर बसाने की माया' से चिढ़ने वाले लोग कभी इस दृष्टिकोण से नहीं सोच सके, कि यह घर कुछ गलत ढंग से बना है। अंदर दम घुटता हो, तो उस घर को छोड़ कर जाना क्या उचित है ? क्या यह नहीं सोचना चाहिये कि सम्भवतः खिड़की तोड़ कर हवा भीतर आये तब साँस लेने में दिक्कत नहीं होगी ?

इस पक्ष से समस्त मन्तव्यों ने समाज की घर बदलने की प्रेरणा को अफ़ीम सी खिला दी और लोग उन्हीं चक्करों में भूले रहे।

यह अनुभवों का भंडार आज हमारा है। यह एक विराट संपत्ति है, इसको देखकर गौरव का अनुभव करो। इसकी जो अच्छाइयां हैं वे हमारी हैं। हम उनका आदर करते हैं। मनुष्य यात्री कितनी बड़ी यात्रा चल कर इतना दूर आया है। जब संसार घृणा और युद्ध में डूबा रहता था, तब यह लोग उसे बार-बार याद दिलाते थे कि वह सबसे पहले मनुष्य था।

हमें उनके समस्त उपदेशों का सार सुनाई दे रहा है : संसार बुरा है। उससे डरो नहीं। उसे भला बनाने का प्रयत्न करो। तुम मनुष्य हो।

तभी चण्डीदास ने कहा है :

सबसे ऊपर मानवसत्य है,

उसके ऊपर कोई नहीं।

आवाज़ उठाई थी। बीच के, चतुर तथा उच्च लोगों ने उनके नाम की आड़ में अपना स्वार्थ साधा। जन समाज उन्हीं के नाम से बार बार भटकाया गया।

किन्तु वे मानवतावादी थे। बावजूद उच्च जाति तथा वर्गों के स्वार्थी प्रयत्नों के इन सन्तों ने मनुष्य मात्र के कुछ अधिकारों को स्वीकृत किया और आगे बढ़ाया. यही उनकी विजय का परिचायक है। उनके व्यक्तिगत जीवन की दृढ़ता, हमारे लिये एक शक्ति है।

उनके सिद्धांत जीवन का वास्तविक दुख कभी भी दूर नहीं कर सके। वे इसमें असमर्थ थे। उनके आदर्शों पर चल कर, उनका अनुयायी बन कर समाज इसका अनेक बार अनुभव कर चुका है।

सन्त संसार को दुखी समझ कर छोड़ते थे। समाज संसार यदि दुखी है तो क्यों है ? क्योंकि उसके समाज के आधार गलत ढंग के हैं। योग, तप, मनन इत्यादि से कोई भी नहीं सुधर सकेगा। अपना कल्याण भले ही हो जाये।

इसी सन्त परम्परा पर अपना निर्णय देते समय हमें सदैव याद रखना होगा कि बोधिसत्व ने निर्वाण का भी स्वीकार नहीं किया था, क्योंकि संसार दुखी था।

यही चेतना हममें है. रहे, और हमारा साथ दे। मनुष्य से प्रेम करो। यह एक अखंड दीपक है। सन्तों के युग के दीपक ऐसे थे जिनके नीचे अंधेरा रह जाता था। हमने बिजली के बल्ब बना लिये हैं, उनसे रात को दिन बनाया जा सकता है। सब कुछ है। सारा संसार जूझ रहा है।

तभी कबीर ने कहा है।

तीरथ में तो सब पानी है, होवे नहीं कछू अन्हाय देखा।
प्रतिमा सकल तो जड़ हैं भाई, बोलें नहीं बोलाय देखा।
पुरान-कोरान सबै बात है, या घट का परदा खोल देखा।
अनुभव की बात कबीर कहै यह, सब है झूठी पोल देखा।

हम अब पीछे क्यों लौटें ! यदि हम समाज के वैज्ञानिक आधार छोड़ कर आत्मतुष्टी की कल्पना में फिरें तो इतिहास कबीर की भाँति ही कह उठेगा।

पानी बिच मीन पियासी। मोहिं सुन सुन आवै हाँसी।
घर में वस्तु नजर नहिं आवत बन बन फिरत उदासी।
आतमज्ञान बिना जग झूठा, क्या मथुरा क्या कासी ?